अदिति

(देवजननी)

सम्पादक

आचार्य अभयदेवजी विद्यालंकार

प्रकाशक

श्रीअरविन्द निकेतन

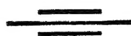
कनाट सर्कस, नई देहली ।

मूल्य सवा रुपया

वर्ष-भर की चारों पुस्तिकाओं का मूल्य चार रुपया ।

२१ फरवरी १९४३ के
श्रीअरविन्द दर्शन
के उपलक्ष में
भेंट

विषय-सूची



अदिति

1943

The hour has come when a choice has to be made, radical and definitive.

Lord, give us the strength to reject falsehood and emerge in Thy truth, pure and worthy of Thy Victory.

नये वर्ष की प्रार्थना

[श्रीअरविंदाश्रम में माता जी प्रत्येक नए वर्ष के प्रारम्भ में अपने साधकों के लिए एक प्रार्थना देती हैं जो उस वर्ष भर के लिए होती है। निःसंदेह यह प्रार्थना उस वर्ष में सम्पूर्ण जगत् में आध्यात्मिक दृष्टि से होनेवाले कार्य को सूचित करने वाली होती है, अतः उस प्रार्थना की भावना में रहने से तथा उसके अनुसार आचरण करने से साधक की जहां अपनी उन्नति, पूर्णता की तरफ उसका अपना आध्यात्मिक विकास, होता है, वहां उस द्वारा जगत् में जो दिव्य कार्य होना है उसमें भी सहायता पहुँचती है। आशा है पाठक इस दृष्टि से इस पवित्र प्रार्थना को पढ़ेंगे जो माता जी के अपने अक्षरों में भी अँग्रेज़ी में जुदा छापी जा रही है। —संपादक]

1943

The hour has come when a choice has to be made radical and definitive.

Lord, give us the strength to reject falsehood and emerge in Thy truth, pure and worthy of Thy victory.

१९४३

वह घड़ी आ गई है जब कि हमें एक चुनाव कर लेना है, मूलग्राही और निर्णायक चुनाव।

प्रभो! हमें वह बल प्रदान करो जिससे कि हम असत्य को त्याग सकें और तुम्हारे सत्य में उदित हो सकें, विशुद्ध होकर और तुम्हारी विजय के पात्र होकर।

व्याख्या

[वैसे तो इस प्रार्थना की व्याख्या करने में कुछ शब्द अपनी तरफ से प्रयुक्त करना इसके सौन्दर्य और बल को बिगाड़ना लगता है, इसलिए कुछ भी व्याख्या के तौर पर लिखने का विचार तक नहीं था। पर देखा है कि ऐसे पाठक भी काफी हैं जिन्हें कि व्याख्या हो जाने से इस प्रार्थना को समझना और हृदयंगम कर सकना आसान हो जायगा। इसलिए उन लोगों की दृष्टि से निम्न शब्द लिखे जा रहे हैं। —सम्पादक]

इस प्रार्थना को समझने के लिये अच्छा तो यह होता कि पिछले कुछ वर्षों की प्रार्थनाओं का पाठकों को अक्षरशः पता होता और हमारा विचार है कि कभी पिछले सब वर्षों की जब से ऐसी प्रार्थना का क्रम आरम्भ हुआ है प्रार्थनाओं को क्रमिक रूप में पाठकों को दे सकें। पर

अभी संक्षेप में इतना संकेत कर देना पर्याप्त है कि १९४० की प्रार्थना 'आत्मविशुद्धि' की प्रार्थना थी; १९४१ में दैव योद्धा बनने की प्रार्थना की गई थी, उस युद्ध में जिसे कि संसार अपने आध्यात्मिक जीवन के लिये आसुरिक शक्तियों के विरुद्ध लड़ रहा है, १९४२ में सहन करने की शक्ति की प्रार्थना की गई थी और प्रत्येक शत्रु पर विजय पाने वाले भगवान् की महिमा मनाई गई थी। अब इस १९४३ की प्रार्थना में मुख्य बात इस ईश्वरीय विजय के अवसर पर चुनाव कर लेने की है। जैसे कि कठोपनिषद् के नचिकेता को श्रेय और प्रेय में से श्रेय को ही हर हालत में वरण कर लेना था, इसी प्रकार यह नया वर्ष हमारे लिये आसुरिक असत्य और भगवान् के सत्य में से दूसरे को अपने लिये चुन लेने को आ रहा है, यदि हम ईश्वरीय इच्छा को देख सकें। और जब हमें यह ठीक चुनाव करना है तो हम इसे पूरी तरह ही करें। अधूरेपन से अब काम नहीं चलेगा। थोड़ा-थोड़ा दोनों तरफ हम नहीं रह सकेंगे। अतः मौलिक रूप में और अन्तिम तौर पर हमें एक तरफ, भगवान् की तरफ, भगवान् का हो जाना चाहिये। चुनाव का मौक़ा बार-बार नहीं आयेगा। यदि भागवत सत्य को पकड़ने के लिए, अपनाने के लिए हम तैयार नहीं होंगे तो बहुत बुरी तरह चूक जायँगे। अब इस बात का समय नहीं है कि हम धीमे-धीमे क्रम-क्रम से यह चुनाव करें। यह तो हमारा

एकबारगी और जड़ तक पहुँचने वाला, बिना शर्त का, निर्णायक, अन्तिम, पूरा और सदा के लिए चुनाव होना चाहिए। यह संदेश लाता हुआ १९४३ का वर्ष आ पहुँचा है।

इस तरह हमें अपने जीवन को बिल्कुल पलट देना है, बिल्कुल नया हो जाना है। पुरानी चीज़ को छोड़ देना बड़ा कठिन होता है। परमेश्वर हमें बल दे कि हम पुराने असत्य के जीवन को बिलकुल छोड़ सकें। जिस मिथ्यापन में हम डूबे हुए थे, उसमें से बाहर निकल सकें; उभर सकें, ऊपर आ सकें। भगवान् के सत्य का दिव्य प्रकाश ऊपर से आ रहा है। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि यह दुर्लभ वस्तु हमारे लिए आ रही है। हम इसे पहिचानें। ऊपर उठें। चूक न जायें। परमेश्वर हमें बल दे कि हम उठ सकें और इसे पकड़ सकें। यदि हम ऐसा करेंगे तो हम विशुद्ध, पवित्र होकर निकलेंगे और परमेश्वर की विजय के पात्र होवेंगे। हम शुद्ध हो निखर कर ऊपर उभरेंगे और परमेश्वर की विजय हमें प्रसाद में मिलेगी।

सो हम इस वर्ष पवित्र होकर और परमेश्वर की विजय के पात्र बनकर उसके सत्य में उदित हो जायें।



श्रीअरविन्द के सूत्र-वचन

१ लक्ष्य

जब हम ज्ञान करने से पार हो चुकेंगे तब हमें यथार्थ ज्ञान होगा। तर्क सहायक था और तर्क ही बाधक है।

जब हम संकल्प करने से पार हो चुकेंगे तब हमें शक्ति प्राप्त होगी। प्रयत्न सहायक था और प्रयत्न ही बाधक है।

जब हम सुखोपभोग करने से पार हो चुकेंगे तब हमें आनन्द प्राप्त होगा। इच्छा सहायक थी और इच्छा ही बाधक है।

जब हम व्यक्ति-भेद करने से पार हो चुकेंगे तब हम वास्तविक 'पुरुष' होंगे। अहम्भाव सहायक था और अहम्भाव ही बाधक है।

जब हम मनुष्य-पने से पार हो चुकेंगे तब हम वास्तविक 'मनुष्य' बनेंगे। पशुभाव सहायक था और पशुभाव ही बाधक है।

तर्कणा को व्यवस्थित अन्तःस्फुरणा में परिणत कर दो; तुम सर्वांश में प्रकाश हो जाओ। यह तुम्हारा लक्ष्य है।

प्रयत्न को आत्म-शक्ति के एकरस और महान् प्रवाह में परिणत कर दो; तुम सर्वांश में चेतन-शक्ति हो जाओ। यह तुम्हारा लक्ष्य है।

भोग को एकरस और निर्विषय हर्षावेश में परिणत कर दो; तुम सर्वांश में आनन्द हो जाओ। यह तुम्हारा लक्ष्य है।

विभक्त व्यक्ति को विश्व-व्यक्ति में परिणत कर दो; तुम सर्वांश में दिव्य हो जाओ। यह तुम्हारा लक्ष्य है।

पशु को गोपाल में परिणत कर दो, तुम सर्वांश में 'कृष्ण' हो जाओ। यह तुम्हारा लक्ष्य है।

*　　　*　　　*

इस समय जो कुछ मैं नहीं कर सकता हूँ वह इसका द्योतक है कि भविष्य में उसे मैं कर लूँगा। असम्भवता का भान ही सब सम्भवों का प्रारम्भ है। क्योंकि यह ऐहलौकिक विश्व एक अयुक्ता-भास और एक असम्भवता था, इसलिये शाश्वत देव ने अपनी सत्ता में से इसे उत्पन्न किया।

असम्भवता इसके सिवाय और कुछ नहीं कि यह अपेक्षया बड़े, अभी तक असिद्ध सम्भवों का संकलन-मात्र है। असम्भवता के पीछे एक उन्नत अवस्था और एक अभी तक पूरी न हुई यात्रा छिपी रहती है।

यदि तुम चाहते हो कि मानवता और आगे उन्नत हो तो पहले से ही मान रखे हुए सब विचारों को आघात पहुँचाओ। इस प्रकार आहत किया हुआ विचार जागता है और रचना-शक्ति से युक्त

हो जाता है। अन्यथा यह यन्त्र की तरह बार-बार एक ही क्रिया को दोहराने में सन्तुष्ट रहता है और भूल से इसी को अपनी क्रिया समझता रहता है।

अपनी ही धुरी पर घूमना मानवीय आत्मा के लिये एकमात्र गति नहीं है। इसे एक अक्षय प्रकाश के सूर्य के चारों ओर भी चक्कर काटना है।

अपने निजी स्वरूप की चेतना को पहले तुम अपने अन्दर प्राप्त कर लो, फिर विचार करो और कर्म करो। प्रत्येक जीवित विचार एक तैयार हो रहा संसार है; प्रत्येक वास्तविक कर्म एक व्यक्त रूप में आया हुआ विचार है। यह भौतिक संसार विद्यमान है, इसलिये क्योंकि दैवी स्व-चेतना में एक विचार ने खेलना प्रारम्भ किया था।

अस्तित्व या सत्ता के लिये विचार आवश्यक नहीं है और नाहीं विचार इसका कारण है। परन्तु संभूति के लिये—कुछ होजाने के लिये—यह एक उपकरण है। मैं वही हो जाता हूँ जो कुछ अपने अन्दर देखता हूँ। वह सब जो कि विचार मुझे सुझाता है मैं कर सकता हूँ। वह सब कुछ जो कि विचार मेरे अन्दर प्रकट करता है, मैं हो सकता हूँ। ऐसा मनुष्य का अपने में अटल विश्वास होना चाहिये, क्योंकि भगवान् उसके अन्दर बसता है।

हमारा कार्य उसी को सदा दोहराते रहना नहीं है जिसे मनुष्य पहले ही कर चुका है, बल्कि हमने नये अनुभवों को और स्वप्न तक में अचिन्तित प्रभुताओं को उपलब्ध कर लेना है। काल,

आत्मा और संसार हमें हमारे क्षेत्र के रूप में दिये गये हैं; दृष्टि, आशा और रचनात्मक कल्पना हमारी प्रेरणा-दात्री होकर उपस्थित हैं; संकल्प, विचार और परिश्रम हमारे सर्व-साधक उपकरण हैं।

वह नई बात कौन सी है जिसे हमने अभी पूरा करना है? प्रेम, क्योंकि अभी तक हमने घृणा और आत्मतुष्टि को ही पूरा किया है। ज्ञान, क्योंकि अभी तक हमने भ्रान्ति, इन्द्रिय-प्रतीति और विचार-क्रिया को ही सिद्ध किया है। आनन्द, क्योंकि अभी तक हम सुख, दुःख और उदासीनता ही प्राप्त कर पाये हैं। शक्ति, क्योंकि अभी तक तो दुर्बलता, प्रयत्न और पराजित विजय को ही हमने पाया है। जीवन, क्योंकि अभी तक हमने जन्म, वृद्धि और मरण को ही पूरा किया है। एकता, क्योंकि अभी तक हमने संग्राम और संबभाव की ही प्राप्ति की है।

एक शब्द में, दिव्यताप्राप्ति—अपना पुनर्निर्माण कर अपने आपको परमेश्वर की दिव्य प्रतिमा बना लेना।

२ सत्ता का आनन्द

यदि ब्रह्म केवल मात्र एक व्यक्तित्व-रहित निर्विशेषभाव है जो कि हमारी सविशेष (मूर्त) सत्ता के प्रत्यक्ष तथ्यों का निरन्तर खण्डन-रूप है तो विराम ही इस सब कुछ का ठीक अन्त होना चाहिये था। लेकिन नहीं, प्रेम, आनन्द और स्वात्म-भान भी हैं जिनकी कि अवगणना नहीं की जा सकती।

यह विश्व न तो केवल एक गणित का सूत्र है जो कि संख्या

और तत्व कहे जानेवाले कुछ मानसिक निर्विशेष भावों के पारस्परिक सम्बन्ध को हल करने के लिये लगाया जा रहा है जिससे कि अन्त में हम शून्य या अभावात्मक इकाई के उत्तर तक पहुँच जायें; नाहीं यह शक्तियों के किसी समीकरण का रूप धारण किए हुए केवल एक भौतिक क्रिया-व्यापार है। यह एक आत्म-प्रेमी का आनन्द है, एक शिशु का खेल है, एक कवि की अनन्त आत्म-बहुरूपता है जो असीम रचना कर सकने वाली अपनी ही शक्ति के आनन्दोल्लास से उन्मत्त है।

हम भले ही उस परमदेव के बारे में ऐसा कह दें मानो कि वह एक गणितज्ञ है जो विश्व-रूपी प्रश्न को संख्याओं में हल कर रहा है अथवा वह एक विचारक है जो परीक्षणों के द्वारा नियमों के सम्बन्धों की तथा शक्तियों के संतुलन की एक समस्या को हल कर रहा है; लेकिन साथ ही हमें उसके बारे में यूँ भी कहना चाहिए कि वह एक प्रेमी है, समष्टिगत तथा व्यष्टिगत रागों का एक रागी है, एक शिशु है या एक कवि है। विचार का पार्श्व ही पर्याप्त नहीं है, आनन्द का पार्श्व भी पूर्णतया ग्रहण करना चाहिए। विचार, शक्तियाँ, सत्ताएँ, नियम ये सब खोखले साँचे हैं यदि ये ईश्वरीय आनन्द के प्राण से भरपूर नहीं हैं।

ये सब दृश्य वस्तुएँ प्रतिमाएँ हैं, लेकिन यह सब कुछ ही एक प्रतिमा है। निर्विशेष भावना हमारे सामने ईश्वरीय सत्यों के शुद्ध विचार को रखती है, ये प्रतिमायें उनकी जीवित-जागृत वास्तविकता को हमें दिखाती हैं।

यदि विचार ने शक्ति का आलिंगन करके लोकों को उत्पन्न किया तो सत्ता के आनन्द ने विचार को उत्पन्न किया। क्योंकि अनन्त परमेश्वर ने अपने अन्दर अपरिमेय आनन्द को धारण किया इसीलिये लोक-लोकान्तर और विश्व उत्पन्न हुए।

सत्ता की चेतना और सत्ता का आनन्द सबसे पहले माता-पिता हैं, उत्पादक हैं। साथ ही वे अन्तिम परात्पर सत्तायें हैं। अचेतनता चेतन आत्मा की केवल एक मध्यवर्ती मूर्छा या इसकी तमोवृत सुप्ति है। दुःख और आत्म-निर्वाण भी सत्ता के ऐसे आनन्द ही हैं जो केवल अन्य स्थान पर या अन्य प्रकार से अपने आपको पाने के लिये अपने से दूर भाग रहे हैं।

सत्ता का आनन्द काल से सीमित नहीं है, इसका आदि या अन्त नहीं है। परमेश्वर केवल इसलिए ही वस्तुओं के एक रूप से बाहर आता है कि वह दूसरे रूप में प्रवेश करे।

आखिर परमेश्वर और क्या है? एक सनातन शिशु है जो एक सनातन उद्यान में एक सनातन खेल खेल रहा है।



पांडिचेरी के परमहंस

श्रीअरविन्द उन महापुरुषों में से हैं जो संसार में कभी-कभी उत्पन्न होते हैं। उनकी महानता अभी संसार को विदित नहीं है, पर मेरी ऐसी श्रद्धा है कि एक दिन संसार उसे अवश्य जानेगा।

ऐसे महापुरुष के विषय में भी भारतवर्ष में और विशेषतः उत्तर भारत में लोगों को बहुत कम परिचय है। इसका कारण यही है कि इस विज्ञापन और प्रचार के युग में भी उनको विज्ञापनबाज़ी-प्रोपेगन्डा-में ज़रा भी विश्वास नहीं है। सत्य में, सत्य-स्वरूप परमेश्वर में प्रतिष्ठित होने के कारण उन्हें संसार की और किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। वे स्पष्ट देखते हैं कि जो सत्य है, वह स्वयमेव प्रकट होता है, सूर्य की तरह उदित होता है; और जो उससे लाभ उठाना चाहते हैं, वे स्वयं उसके लिए आकृष्ट होते हैं। दस-बारह वर्ष पहले की बात है, जब कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर यूरोप जाने लगे तो वे श्रीअरविन्द से मिलने आये। उस समय उन्होंने श्रीअरविन्द से कोई सन्देश माँगा, जिसे वे वहाँ जाकर सुना सकें। श्रीअरविन्द

का उत्तर था, 'मैं सत्य को दूसरों के दरवाजे पहुँचाने में विश्वास नहीं रखता'—(I do not believe in bringing truth to another's door) जिसको मुझसे कुछ लेना होगा वह मेरे पास आयेगा। यही कारण है कि हम लोग इनके विषय में कुछ भी नहीं जानते, अधूरा जानते हैं या भ्रमपूर्ण बातें जानते हैं।

ईश्वर-कृपा से पिछले पाँच-छः वर्षों से मुझे श्रीअरविन्द-आश्रम में जाकर वर्ष में ४, ५ महीने तक रहने का अवसर होता है और मैं आश्रम से संबद्ध हो चुका हूँ। इसी निकट परिचय के आधार पर मैं श्रीअरविन्द-आश्रम के विषय में पाठकों को कुछ जानकारी देने का यत्न करूँगा।

१ श्रीअरविन्द की सिद्धि

सरकार श्रीअरविन्द को शायद अब तक भी एक भयंकर विद्रोही समझती है। भारत की शिक्षित जनता उनको एक महान् देशभक्त के रूप में पूजती है। इसी कारण उनको कई बार काँग्रेस के अध्यक्ष-पद के लिए निमंत्रित किया जा चुका है। पर वे अब इस स्थिति से ऊपर हो चुके हैं। अब से लगभग तेंतीस वर्ष पूर्व अर्थात् उन्नीस सौ दस में वे अपने तीन पागलपन बताते हुए इधर आये थे। अपना सर्वस्व भारतमाता के चरणों में समर्पित करना, भारतमाता को बन्धन-मुक्त करना और तीसरे, भगवान् का साक्षात्कार, ये थे उनके तीन पागलपन। पर शीघ्र ही पहली दो बातें,

तीसरी विराट साधना में समा गईं। पांडिचेरी पहुँच कर वे पूरी तरह योग-साधना में लीन हो गये। पाठकों को आश्चर्य होगा कि पिछले पच्चीस वर्षों से वे अपने मकान से बाहर तक नहीं निकले। वे योग के जिस ध्येय के लिए साधना कर रहे थे, उसमें उनको सन् उन्नीस सौ छब्बीस (१९२६) की चौबीस (२४) नवम्बर को सफलता प्राप्त हुई। तभी से श्रीअरविन्द ने अन्य साधकों को भी योग-साधना में सहायता करने का कार्य अपने ऊपर लिया। यहीं से श्रीअरविन्द-आश्रम का वास्तविक आरम्भ होता है।

२ माताजी

आश्रम की व्यवस्था के विषय में जानने के लिए माता जी के व्यक्तित्व को जानना बहुत आवश्यक है। माताजी जन्म से एक फ्रेंच महिला हैं। इनका नाम है मिरादेवी। आश्रम में सभी उन्हें माताजी, मा, मदर (Mother) इसी नाम से जानते या संबोधित करते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से वे श्रीअरविन्द के समकक्ष ही मानी जाती हैं। आश्रम का आरंभ होने से पहले जब श्रीअरविन्द अपनी एकान्त साधना में थे, तब कुछेक साधक उनके साथ साधना में रहते थे। इसी बीचमें, अर्थात् उन्नीस सौ चौदह (१९१४) में माताजी भारत में आईं। वे जापान में भी कुछ वर्ष रही हैं। भारत आने से पहले वे यूरोप और उत्तर अफ्रीका में रहकर अपनी साधना करती रही हैं। पांडिचेरी में उनका

आना अनायास ही हुआ। श्रीअरविन्द से मिलीं, और तब से आश्रम में रहने लगीं। १९१४ में यूरोपीय युद्ध के कारण उन्हें तुरन्त ही फ्राँस जाने की जरूरत पड़ी। युद्ध के बाद वे फिर यहाँ आईं। माताजी के ही आग्रह से श्रीअरविन्द ने 'आर्य' पत्र का १९१४ में प्रकाशन आरंभ किया था। परिचय होने पर श्रीअरविन्द को मालूम हुआ कि माताजी की आध्यात्मिक स्थिति बहुत उन्नत है। पर अब तो जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, दोनों की स्थिति एक समझी जाती है। जो बात श्रीअरविन्द को कहनी हो वह निस्संकोच माताजी को कही जा सकती है। जब से आश्रम की स्थापना हुई है—अर्थात् नवम्बर १९२६ से—उसकी सम्पूर्ण व्यवस्था माताजी के ही हाथों में है। और तभी से श्रीअरविन्द किसी से न बात करते हैं और न मिलते हैं। माताजी ही सारा कार्य-संचालन करती हैं। मानो माताजी प्रकृति-रूप हैं, और श्रीअरविन्द पुरुष-रूप।

माताजी भी कम-से-कम बोलती हैं। आवश्यकता होने पर वे साधकों को मिलने का अवसर भी देती हैं। उनके दर्शन आजकल प्रातः ६॥ बजे के लगभग तथा दोपहर को प्रतिदिन हो सकते हैं। किन्तु बिना विशेष आज्ञा लिये उनसे भी कोई वार्तालाप नहीं हो सकता।

माताजी को प्रणाम करने का अवसर भी अनुमति लेकर प्राप्त किया जा सकता है।

माताजी के संपर्क में आने पर ही उनकी महिमा और दिव्यता की कुछ अनुभूति हो सकती है। मुझे उन से मिलने का प्रथम बार ही जो अवसर हुआ था उसका मुझ पर कुछ विशेष प्रभाव हुआ था, ऐसा कह सकता हूँ।

३ श्रीअरविन्द के दर्शन

श्रीअरविन्द चौबीस नवम्बर उन्नीस सौ छब्बीस से सर्वथा एकान्त-सेवी हो गये थे। तब से उनसे न कोई मिल सकता था, न बात कर सकता था। पर इस सर्वथा एकान्त सेवन के १२ वर्ष बाद १६३८ से (जबकि उनके पैर में चोट लगी थी तब से) ७, ८ साधकों को उनकी सेवा के लिए उनके पास बारी-बारी से उपस्थित रहने की अनुमति हुई है। पर इनके अतिरिक्त अब भी अन्य कोई साधक तक उनके पास नहीं जा सकता। तो अन्य लोगों के आध्यात्मिक कल्याण के लिये यह व्यवस्था की गई है कि वर्ष में चार दिन उनके दर्शन प्राप्त किये जा सकते हैं। वे चार दिन निम्नलिखित हैं—

२१ फेब्रुएरी (माताजी का जन्म-दिन)

२४ एप्रिल (माताजी का पांडिचेरी आ जाने का दिन)

१५ अगस्त (श्रीअरविन्द का जन्म-दिन)

२४ नवम्बर (श्रीअरविन्द का सिद्धि-दिवस)

इन चार दिन जो उनके दर्शन प्राप्त करना चाहें, उन्हें पहले से दर्शन की आज्ञा प्राप्त कर लेनी चाहिये। बिना

आज्ञा प्राप्त किये किसी को वहाँ नहीं जाना चाहिये। ऐसे ही जाना व्यर्थ भी हो सकता है। पहिले तीन ही दर्शन होते थे। चौथा २४ एप्रिल का दर्शन १९३९ से ही प्रारम्भ हुवा है। इस दिन साधारणतया बाहर के लोगों को दर्शन की अनुमति नहीं दी जाती। यह दर्शन मुख्यतया आश्रम-वासियों के लिये ही है। मैंने सन् उन्नीस सौ पैंतीस की इक्कीस फेब्रुएरी के दिन प्रथम बार उनका दर्शन-लाभ किया। इस अवसर पर बाहर के लगभग तीन सौ व्यक्ति, भिन्न-भिन्न जगह से, दर्शनार्थ आये थे। पाठकों को यह ध्यान रखना चाहिये कि दर्शन के समय में भी उनसे बातचीत नहीं की जा सकती। दर्शन के लिये लगभग आधा, एक या डेढ़ मिनट (संख्या के अनुपात में) प्रत्येक दर्शनार्थी को मिलता है। प्रथा यह है कि दर्शनार्थी एक नियत क्रम में फूल व मालाएँ लेकर अथवा खाली हाथ जाते हैं, श्रीअरविन्द के और उनकी दाहिनी ओर बैठी माताजी के दर्शन करते हैं। उनकी तरफ़ देखते हुए, ध्यान करते हुए, या प्रणाम करते हुए अपनी-अपनी शैली के अनुसार दर्शनार्थी ये अपने एक-दो क्षण बिता देते हैं। दर्शन में मैंने उनकी मूर्त्ति को चित्र में देखी मूर्ति से अधिक भव्य पाया। उनका कोई भी चित्र पचीस बरस से कम पुराना नहीं है। तब से उनका चित्र लेने की कभी अनुमति नहीं मिली।

बहुत-से दर्शनार्थी ऐसा अनुभव करते हैं कि इस दर्शन

से उनकी आत्मिक उन्नति होती है। पहली बार पांडिचेरी जाता हुआ जब मैं वर्धा से मद्रास के लिए गाड़ी पर सवार हुआ तो उसी डिब्बे में एक मद्रासी युवक से मेरी भेंट हो गई। वह दर्शन के लिए जा रहा था, पहले भी कई बार दर्शन कर चुका था। मैंने उससे पूछा कि—तुम क्यों दर्शन करने जाते हो, क्या कौतूहल-वश? 'इससे मुझे आन्तर बल (Inner strength) प्राप्त होता है'—उसने कहा। 'तुम तो पहले भी दर्शन कर चुके हो, क्या कभी ऐसा अनुभव भी हुआ है?'—मैंने फिर प्रश्न किया। उसने कहा—हाँ! तभी तो फिर दर्शन करने की इच्छा होती है। यह बात औरों के भी अनुभव की है। बहुतों में एक बार का दर्शन आध्यात्मिक भूख लगा देता है और उन्हें फिर-फिर दर्शन करने की उत्कण्ठा होती है। ऐसे भी हैं जिनको एक बार के दर्शन के बाद फिर कभी दर्शन की इच्छा नहीं होती। यह प्रत्येक की अपनी ग्रहण-शक्ति और अभीप्सा पर निर्भर करता है।

४ आश्रम

लोग समझते हैं श्रीअरविन्दाश्रम किसी एक बड़े-से दायरे में शहर से बाहर किसी संस्था की तरह अलग बना होगा। परन्तु ऐसा नहीं है। आश्रम बनाया नहीं गया है। स्वतः बन गया है। वृक्ष की तरह स्वभावतः विकसित हुआ है। अतः जिस मकान में श्रीअरविन्द रहते थे उसमें तथा

इससे कुछ दूरी पर लगभग ६० अलग मकानों में आश्रम-वासी रहते हैं। बीच-बीच में दूसरे नगरवासियों के मकान भी आ जाते हैं। आश्रमवासियों को जोड़ने वाले श्रीअरविन्द तथा माताजी हैं। कोई घिरा हुआ स्थान या किसी अन्य बाहिरी स्थिति की उन्हें जोड़ने के लिए आवश्यकता नहीं है। हाँ, सब साधक, भोजन, ध्यान आदि के सामुदायिक कार्य प्रायः एक स्थान पर एकत्र होकर मिल कर करते हैं।

आजकल लगभग तीन सौ (३००) साधक वहाँ रहते हैं। इनमें दो सौ के लगभग साधक और शेष सौ के लगभग साधिकायें हैं। कुछ लोग फ्रान्स, इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि के भी आये हुए हैं। कुछ मुसलमान भी हैं। पर यह तो केवल पाठकों के कौतूहल की दृष्टि से लिखा। वहाँ तो वस्तुतः जाति, रंग, मजहब का कुछ भी भेद नहीं है। वहाँ के वातावरण की एकतानता में इस सब की कल्पना भी नहीं है। वहाँ ये सब एक हैं। प्रान्तों की दृष्टि से गुजरातियों और बंगालियों की संख्या सबसे अधिक है, फिर मद्रासी हैं। महाराष्ट्र की एक-दो महिलाएँ व भाई अभी आये हैं। पंजाब और संयुक्तप्रान्त से पिछले वर्षों ही में ६, १० साधक वहाँ पहुँचे हैं। चार-पाँच बिहार के हैं। राजपूताने के भी एक दो सज्जन हैं। सब साधक अपने समस्त अतीत को, जातीयता, प्रान्तीयता आदि सब राग-भावना

को छोड़कर ही आगे बढ़ते हैं। वहाँ की व्यावहारिक भाषा अंग्रेजी है। श्रीअरविन्द और सब भाषाओं के पत्र भी प्रायः पढ़ लेते हैं किन्तु उनका उत्तर सदा अंग्रेजी में ही होता है। आपस में साधक बंगाली, गुजराती, फ्रेञ्च, तामिल, तेलुगु और हिन्दी में भी बात करते हैं। कुछ मद्रासियों के अतिरिक्त हिन्दी प्रायः सब समझते हैं। महिलाएँ तो प्रायः निरपवाद रूप से हिन्दी में बातचीत कर सकती हैं, और समझ सकती हैं। भारतीय भाषा का प्रतिनिधित्व यहाँ हिन्दी ही करती है, यद्यपि मूलतः संयुक्त-प्रान्त के तो तीन-चार ही साधक हैं और वे भी अपेक्षया नये। हिन्दी के ठीक जाननेवाले तो अवश्य गिने-चुने ही हैं।

५ ब्रह्मचर्य

आश्रम में पति-पत्नी सम्बन्ध से कोई नहीं रह सकता। ऐसे साधक भी हैं, जिनकी पत्नी भी उनके साथ या कुछ बाद में आश्रमवासिनी साधिका के रूप में स्वीकृत हुईं, किन्तु वे सब जुदा रहते हैं। वहाँ जितने साधक-साधिका रहते हैं, वे केवल साधना के लिए ही। सब साधक-साधिकाओं का सम्बन्ध सीधा माताजी और श्रीअरविन्द से है। अतः वहाँ स्त्री-पुरुषों का परस्पर सम्बन्ध एक मा-जाये भाई-बहिनों का पवित्र सम्बन्ध है। यही सम्बन्ध उनका है जो पूर्व जीवन में परस्पर विवाहित दम्पति के रूप में रहे हैं।

श्रीअरविन्द ब्रह्मचर्य पर अत्यधिक बल देते हैं। जो व्यक्ति काम-वासना को सर्वथा शान्त नहीं करना चाहे, उसका श्रीअरविन्दाश्रम में कुछ काम नहीं है। ऐसे आदमी को श्रीअरविन्द कहते हैं कि यदि तुम इसके लिए भी तैयार नहीं हो दो तुम बाहर दुनिया के सामान्य जीवन में ही रहो, यह मार्ग तुम्हारे लिए नहीं है। मैं जहाँ तक अनुभव कर सका हूँ, वहाँ तक यही कह सकता हूँ कि वहाँ ब्रह्मचर्य का प्रबल वातावरण है। सब इसका प्रेम से पालन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

६ आश्रम-नियम

बहुत से लोग आश्रम के नियम या प्रवेश के नियम पूछते हैं। पर वहाँ ऐसे कोई छपे हुए नियम नहीं हैं, क्योंकि यह कोई सार्वजनिक संस्था नहीं है। असल में यहाँ बाह्य-नियमों का कुछ महत्त्व है ही नहीं। सायंकाल ७ और ८ बजे के बीच में जो सम्मिलित ध्यान होता है जिसमें माताजी आती हैं उसमें सबका सम्मिलित होना भी कोई आवश्यक नियम नहीं है। बाह्य नियम के तौर पर केवल कुछ लिखे हुए नियम हैं जो आश्रम में आकर रहनेवाले को पढ़ने के लिये दे दिये जाते हैं।

साधक रूप में आश्रम में प्रविष्ट होने का भी कुछ रेखाबद्ध नियम नहीं है। श्रीअरविन्द कहते हैं कि मैंने किसी को नहीं बुलाया है। जो व्यक्ति उनसे आश्रमवासी

होने की प्रार्थना करते हैं, उन्हें वे अपनी दृष्टि के अनुसार ही स्वीकृत या अस्वीकृत करते हैं। वे स्वीकृत (आश्रम में प्रविष्ट) उसे ही करते हैं जिसे वे अपने योगकार्य का अधिकारी समझें या उसमें किसी प्रकार सहायक समझते हों।

मैं बहुत-सी अच्छी संस्थाओं और आश्रमों को अन्दर से जानता हूँ। पर मैंने जितनी कम से कम रगड़ के साथ, शान्ति के साथ इस आश्रम का काम चलता देखा है, वैसा और कहीं नहीं। इसका कारण यही है कि यहाँ सब लोग श्री अरविन्द में पूर्ण-भक्ति से प्रेरित होकर ही आये हैं और इसी श्रद्धा से यहाँ रहते हैं। इस परिवार का उद्देश्य—जैसा कि मैं बताने का यत्न करूँगा—अत्यन्त महान् है। यह भी यहाँ की व्यवस्था की उच्चता का कारण है। और फिर इस आश्रम में व्यक्तियों को पूरा परख कर लिया जाता है। यह कहा जा सकता है कि श्रीअरविन्द अपनी दिव्य-दृष्टि से देखकर ही किसी को आश्रमवासी बनाते हैं अतः इस आश्रम में सब कुछ श्रीअरविन्द व माताजी की आज्ञा ही है, और सब लोग उन्हें अपना पूरा समर्पण करके रहने का यत्न करते हैं। एवं यहाँ बाह्य नियम-बन्धन कोई नहीं है, पर आन्तरिक स्वाभाविक बन्धन बहुत दृढ़ है।

यद्यपि यह आश्रम कोई सार्वजनिक संस्था नहीं है;

तो भी आश्रम के व्यय का-पूरा-पूरा हिसाब रखा जाता है। बेशक उस हिसाब को देखने का जनता का अधिकार हो ऐसी बात नहीं है। जैसे अपने घर की सजीव व्यवस्था के लिए आय-व्यय का पूरा नियन्त्रण रखना आवश्यक है, उसी तरह श्रीअरविन्द के इस घर में होता है। यह सब कुछ उनकी अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति है, सब पर उनका या माताजी का अपना स्वत्व है, और आश्रमवासी इस विशाल घर में उनके अपने बच्चे हैं।

दर्शकों को आश्रम दिखाने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती। कभी-कभी किन्हीं विशेष अवस्थाओं में माताजी की आज्ञा लेकर ही दिखाया जाता है। इसलिए वैसी उत्सुकता मन में लेकर वहाँ किसी को नहीं जाना चाहिये।

७ भोजन-व्यवस्था

बहुतों को शायद ऐसा भ्रम होगा कि वहाँ आहार के विषय में कोई संयम-नियम नहीं है। वहाँ जाने से पहले मैंने भी यह सुन रखा था कि वहाँ मांस, शराब का भी परहेज नहीं है। पर वहाँ जाकर मैंने इस बात को एकदम गलत पाया। गौ का दूध, दही, बिना मसाले का शाक व दाल, चावल, केले, नींबू और बिना छने आटे की डबल रोटी—यही वहाँ का नियत आहार है। मांस, मछली, शराब का वहाँ कुछ काम नहीं, मिर्च-मसाले और सिगरेट

आदि सब का निषेध है। यह निषेध उन थोड़े-से नियमों में लिखा हुआ है जो कि आश्रमवासी होने पर पढ़ने को दिये जाते हैं।

वहाँ तीन समय भोजन होता है। प्रातः-सायं का भोजन हलका होता है। आश्रमवासियों का भोजन निम्न प्रकार से है।

प्रातराश—पावभर गो-दुग्ध, एक चम्मच कोको-द्रव, डबल रोटी के तीन टुकड़े और केला।

मध्याह्न—चावल, रोटी, दाल या शाक, नींबू का एक टुकड़ा, पाव-भर दही, दो केले।

सायम्—पाव-भर दूध, रोटी, शाक।

श्रीअरविन्द और माताजी भी फलों का रस, दूध, शाक, शाकरस, रोटी आदि यही थोड़ी मात्रा में सेवन करते हैं।

भोजन बनाने का सब काम साधक-साधिकाओं के हाथ में है। अतः वहाँ का भोजन बहुत सफ़ाई से बनता है। भोजन बार-बार नहीं परोसा जाता। भोजनशाला के एक कमरे में एक बड़ी-सी मेज़ पर भोजन-सामग्री स्वच्छता और व्यवस्था से रखी रहती है। तीन-चार साधक ठीक समय पर वहाँ देने के लिए खड़े रहते हैं। अन्य साधक अपने-अपने समय पर आते हैं। भोजन लेते हैं, और दूसरे बड़े कमरों में बिछे आसनों पर बैठकर, सामने रखी

तिपाइयों पर अपनी थाली रखकर शान्ति से भोजन करने लग जाते हैं। साधिकाओं के बैठने की व्यवस्था अलग कमरों में है। जो साधक कार्यवश नियत समय से कुछ देर में आते हैं, उनके लिए एक अलग कमरा है। वहाँ एक जालीदार अलमारी में उनके भोजन की थाली ढककर रख दी जाती है। जब उन्हें अवकाश मिलता है, वे आकर अपना भोजन कर जाते हैं। बर्तन माँजने-धोने का काम भी साधक ही करते हैं।

डबल रोटी बनाने के लिए आश्रम की अपनी बिजली की चक्की और बेकरी है। वहाँ भी सब काम साधक ही करते हैं।

८ अन्य व्यवस्था

उनके योग में 'कर्म' को उत्तम स्थान प्राप्त है। वहाँ सभी साधक अपनी साधना के अंग के तौर पर कुछ न कुछ कार्य करते हैं। माताजी जिस साधक को जो काम सौंपती हैं, उसे वही करना होता है। और प्रायः साधक उसे अपना कल्याणकारी कार्य समझकर, भगवदर्पण बुद्धि से करते हैं। 'कर्म' साधना से अलग नहीं हो जाता। अपितु दिये गये अपने-अपने 'कर्म' में ही साधक अपनी आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया को परखता है और अपनी स्थिति को समझने का प्रयत्न करता है। आटा पीसना, डबल रोटी बनाना, रसोई पकाना, सफाई, द्वार-रक्षा, बढ़ई का काम, वस्तु-

विभाग, लोहारी, उद्यान-विभाग, टाइपिंग, ग्रन्थ-लेखन, कविता, संगीत, चित्राङ्कन, आलेख्य, वस्तु-वितरण, पुस्तकालय-प्रबन्ध, चिकित्सा, दफ्तरी काम आदि सभी प्रकार के काम जो आश्रम में किये जाते हैं उन सबको साधना की दृष्टि से, समता, पवित्रता, सौन्दर्य और विवेकपूर्ण शान्ति से करने का यत्न किया जाता है।

प्रत्येक साधक अपना वही कार्य करता है, जो उसे सौंपा गया है, अथवा जिसे करने की उसने अनुमति प्राप्त कर ली है। मैं कह चुका हूँ ऊपर से देखने में वहाँ साधक को बहुत स्वाधीनता है; पर अपने अन्तर्नियम से प्रत्येक साधक बँधा हुआ है। वहाँ कोई ऐसा सार्वजनिक नियम भी नहीं है कि साधक इतने बजे जागें, इतने बजे स्नान करें, इतने बजे सोयें—आदि। फिर भी प्रत्येक साधक अपनी वैयक्तिक दिनचर्या का पालन करने में सचेत रहता है।

आश्रम में कुछ ऐसी चीजें हैं जो एक प्रकार के लोगों को जरा अखरती हैं, उनके अपने मन में समझे हुए यौगिक वायुमण्डल के ही उन्हें विपरीत लगती हैं। जैसे माताजी का नित्य नयी रेशमी साड़ी पहिन कर आना, फूलों का बहुत निरर्थक सा उपयोग होना, साधकों का सौन्दर्य-पूर्ण या कुछ आरामतलबी का सा जीवन। किन्हीं दूसरों को वहाँ प्रथम दृष्टि में कुछ रहस्यमयता या ढोंग सा भी दीखता

है। पर ये सब ऊपरी दृष्टि की बातें हैं। मुझे स्वयं पहिले दिन माताजी को—वे एक योरोपियन महिला हैं, रेशमी साड़ी पहिने बैठी हैं इस रूप में देखकर—प्रणाम करने की भी इच्छा नहीं होती थी। पर पीछे से, उनकी दिव्यता का कुछ अनुभव हो जाने पर सब बात बिलकुल पलट गई। ऐसा बहुतों के साथ होता है। अस्तु! यहाँ तो इतना ही कहना था कि वहाँ के आश्रम जीवन में, जैसे माताजी का अन्तः-प्रेरित अनुशासन, व्यवस्था और शान्ति वहाँ की एकदम दीखनेवाली अद्भुत विशेषतायें हैं वैसे ही वहाँ के जीवन में सौन्दर्य या कलापूर्णता भी है।

९ व्यय

पाठकों को उत्सुकता होगी कि इस प्रकार दो तीन सौ साधकों का व्यय कैसे चलता होगा। प्रसंगवश यह कहना अनुचित न होगा कि आश्रम में जो भी श्रम-विभाग चलते हैं, वे सब, आश्रम की आन्तरिक आवश्यकता के लिए ही चलते हैं। किसी भी रूप में आश्रम की बनी कोई चीज़ बेची नहीं जाती। और फिर अनुमानतः आश्रम का ख़र्च भी ७, ८ हज़ार रुपए मासिक से कम नहीं होगा।—वैसे तो जो आश्रमवासी के रूप में स्वीकृत होता है, वह अपना सब कुछ (जहाँ अपना अन्तरात्मा और मन, वहाँ अपना सब भौतिक धन भी) मा के चरणों में अर्पित कर देता है।

इस प्रकार कुछ सम्पत्ति आश्रम को मिली है। पर वह बहुत थोड़ी है । आश्रम में अधिकांश तो ऐसे ही साधक हैं, जिनके पास एक कौड़ी भी नहीं थी । प्रत्येक आश्रमवासी पर ३०-३५ रुपया मासिक तो व्यय होता ही है।—यह रुपया कुछ भक्त लोगों से अनायास प्राप्त होता है। श्रीअरविन्द ने कभी आश्रम के लिए चन्दे की अपील नहीं की। बल्कि औरों को भी आश्रम के लिए धन एकत्र करने की कभी अनुमति नहीं दी। आश्रम को सार्वजनिक संस्था नहीं समझते। अतः जनता से न माँगते हैं और न जनता के प्रति उत्तरदायिता समझते हैं। जो कुछ स्वभावतः आता है उसी से उनका कार्य चलता है । श्रीअरविन्द की इस विषय में भी अपनी ही विशेष दृष्टि है। किसी मिलते हुए धन को वे अस्वीकृत भी कर देते हैं—यह तो देखा गया है। पर वे किस दृष्टि से अस्वीकार करते हैं यह मैं नहीं जानता। वे मानते हैं कि यह परमेश्वर का ही कार्य है, परमेश्वर ही रुपया देता है और देगा । जो कुछ उन्हें मिलता है उसे भगवान् से मिला जानकर ही स्वीकार करते हैं। अतएव धन के व्यय आदि के विषय में वे अपने को भगवान् के ही प्रति उत्तरदायी समझते हैं, अन्य किसी के प्रति नहीं । यद्यपि यह कहा जा सकता है कि वहाँ कभी-कभी आर्थिक तंगी होती है, तो भी अर्थाभाव के कारण इनका कार्य कभी भी रुका नहीं है।

१० योग-मार्ग

श्रीअरविन्द जिस योग के गुरु हैं उसे उनके शब्दों में 'पूर्णयोग' कहना चाहिये। यह योग, हठयोग व राजयोग आदि की तरह, केवल शरीर या मन आदि से सम्बन्ध रखने वाला नहीं, किन्तु सम्पूर्ण आधार और सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्ध रखता है।

पूर्णयोग शक्ति–ईश्वरीय शक्ति—को मुख्य मानकर चलता है। श्रीअरविन्द ने 'The mother' में लिखा है कि तीन बातें हैं जो कि मनुष्य को अपने प्रयत्न से सतत करनी हैं। फिर, शेष सब माता की शक्ति कर देगी। पहली बात है अभीप्सा। परमेश्वर की तरफ़ जाने की अभिकांक्षा, दूसरी बात जो हमें करनी है, वह है, 'अस्वीकार' या 'त्याग' अर्थात् अपने अन्दर की हीन प्रकृति की गतियों का त्याग। तीसरी बात है आत्म-समर्पण, पूर्ण शरणागति, ये यत्न हम करते रहें, तो ऊपर से उतरनेवाली ईश्वरीय शक्ति हममें अद्भुत परिवर्त्तन करके हमें भगवान् का विशुद्ध यन्त्र बना देगी।

ऐसा कहा जा सकता है कि उस मार्ग में ऊपर से (सिर के ऊपर) शक्ति के अवतरण का तथा अन्दर (हृदय में) पवित्रता और भक्ति आदि की स्थापना का अभ्यास किया जाता है। इन दोनों केन्द्रों का विकास आवश्यक है।

श्रीअरविन्द के मार्ग की दो विशेषताएँ हैं। पहली है—

विज्ञानमय अवस्था को प्राप्त करना। उनका कहना है कि अभी तक संसार मनोमय दशा से ऊपर नहीं उठ सका है। और जब तक इससे ऊपर न उठ जाय तब तक इस संसार में कोई वास्तविक उन्नति व परिवर्तन नहीं हो सकता। इसलिए उनके योग का पहला ध्येय उस परमोच्च अवस्था तक पहुँचना है। और फिर उस अवस्था तक पहुँच कर भी वहीं स्थित हो जाना नहीं है, किन्तु उस विज्ञानमय शक्ति को नीचे लाकर अपने मन, प्राण और शरीर का सर्वथा दिव्य रूपान्तर कर देना है। अतः दूसरी बात है—'दिव्य रूपान्तर' (Transformation)। इस प्रकार यह योग-मार्ग अपनी इस आरोह-अवरोह की उज्ज्वल प्रक्रिया से इस धरती की अत्यन्त स्थूल मरणासन्न जड़ता को उस परम चैतन्य की ज्योति और दिव्य-जीवन के सम्पर्क द्वारा नवीन उद्बोधन और सनातन जीवित सौन्दर्य की ओर ले जाता है। श्रीअरविन्द की मान्यता है कि पहले के यद्यपि कोई विरले योगी विज्ञानमय तक पहुँचे थे, पर उन्होंने भी उसकी शक्ति द्वारा अपने नीचे के भागों का रूपान्तर करने की आवश्यकता नहीं समझी या नहीं कर पाये। कुछ ने मन तक का रूपान्तर किया, पर प्राण और शरीर के रूपान्तर का कार्य शायद किसी ने नहीं किया। श्रीअरविन्द की साधना के पिछले दस वर्ष 'शरीर का रूपान्तर उस दिव्य-शक्ति द्वारा किया जा सकता है या

नहीं ?' इसी प्रयत्न में बीते हैं। और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नवम्बर उन्नीस सौ छब्बीस में उन्हें इस साधना में सफलता प्राप्त हो गई। अतएव चौबीस नवम्बर का दिवस उनका सिद्धि-दिवस माना जाता है।

११ श्रीअरविन्द का साहित्य

योगी हो जाने के बाद से श्रीअरविन्द का सब साहित्य उनकी 'आर्य'-नामक अंग्रेजी मासिक पत्रिका के १९१४ में प्रकाशित होने से प्रारम्भ होता है जो कि ७ वर्ष तक निकली, और एक तरह से उसी के साथ समाप्त भी हो जाता है। क्योंकि उसके बाद उन्होंने कुछ प्रकाशनार्थ लिखना है या कोई ग्रन्थ लिखना है, ऐसा करके कुछ भी नहीं लिखा है। उनकी जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं वे या तो 'आर्य' पत्रिका में निकले उनके लेखों के संशोधित या परिवर्द्धित संग्रह हैं या साधकों को उनके प्रश्नों के उत्तर में लिखे पत्रों के अंशों के सुव्यवस्थित संकलन हैं।

जो हो, श्रीअरविन्द का यह साहित्य बहुत ही महत्त्व-पूर्ण है। उनकी यह अद्भुत विद्वत्तापूर्ण या ज्ञानप्रकाश-पूर्ण और अन्दर की तहों तक में प्रकाश पहुँचाने वाली तथा आत्मा को उद्बुद्ध एवं जागृत करनेवाली वाणी ही है जो बहुतों को श्रीअरविन्द की तरफ़ सहसा आकृष्ट करती है और उनकी महिमा को दिखाती है। बहुतों का इधर आना उनके साहित्य के स्पर्श से ही हुआ है। मुझे तो श्रीअरविन्द

के एक दो वाक्य ही कहीं से पढ़ लेने से आत्मिक भोजन-प्राप्ति, आत्मिक तृप्ति मिल जाने को काफी होते हैं। इसलिये मैं तो प्रत्येक पाठक से कहूँगा कि यदि वह श्रीअरविन्द को और जानना चाहता है, उनसे लाभ उठाना चाहता है, तो वह उनका साहित्य ज़रूर पढ़े।

वैसे जीवन-सम्बन्धी कोई विषय नहीं है, जिस पर श्रीअरविन्द ने आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं लिखा है, नहीं प्रकाश डाला है। योग, वेद, दर्शन, काव्य, समाजशास्त्र—सभी पर उन्होंने संसार के लिये अपना सन्देश दिया है, केवल उसे सुनने की ज़रूरत है।

पर उस सब साहित्य का विवेचन करना तो यहाँ सम्भव नहीं। पर चूँकि उनके सीधे योग-सम्बन्धी साहित्य को पढ़ना चाहनेवाले बहुत मिलते हैं और ज़रूर पूछते हैं कि हम कौन-कौन-सी पुस्तक पढ़ें, इसलिये उनके लिये इतना लिख देना पर्याप्त और उपयोगी होगा कि वे पहिले कुछ निम्न क्रम से निम्न पुस्तकें पढ़ें। (इनमें से जिनका हिन्दी-अनुवाद हो गया है उनके हिन्दी संस्करण का नाम भी सामने लिख दिया है) :—

(१) The Yoga and Its Objects	(१) हमारा योग और उसके उद्देश्य
(२) The Mother	(२) माता
(३) Essays on the Gita	(३) गीता-प्रबन्ध

(४) Lights on Yoga (४) योग-प्रदीप
(५) Bases of Yoga (५) योग के आधार
(६) The Riddle of This World (६) इस जगत् की पहेली

उनकी सब से बड़ी और मुख्य पुस्तक है The Life Divine। जो उनके दर्शन को पूर्णतया विस्तार से समझना चाहता है उसे यह पुस्तक अवश्य पढ़नी होगी। पर संक्षेप में उनकी विचारधारा को दिखाने के लिये उनकी एक सुन्दर छोटी-सी पुस्तक है Thoughts and Glimpses। योग-सम्बन्धी उनकी विस्तृत लेख-माला का नाम है Synthesis of Yoga, जो अभी पुस्तकाकार नहीं छपी। कुछ समय में उसके प्रकाशित होने की आशा है।

इसी प्रकार माता जी की प्रार्थनाओं की पुस्तक बहुत ही बढ़िया है। उसका एक भाग अंग्रेजी में Prayers and Meditations of the Mother नाम से अभी छपा है। पर सब से पहले तो (ऊपर के लिखे हुवे क्रम में पहले या दूसरे स्थान पर ही) उनकी 'Words of the Mother' पुस्तक पढ़नी चाहिये, जिसका कि 'मातृ-वाणी' नाम से हिन्दी में अनुवाद हो चुका है।

इसके अतिरिक्त वेद-आदि पर भी उनका साहित्य है जिसका कि वर्णन करने का स्थान नहीं।

१२ भावी कार्य-क्रम

'क्या वे फिर राजनैतिक क्षेत्र में आयेंगे ?' यह प्रश्न है जो प्रायः पूछा जाता है। यह प्रश्न आम लोगों के लिए स्वाभाविक भी है। पर जो मनुष्य जान गये हैं कि वे कितने अति महान् कार्य में लगे हैं, उनके लिए ऐसे प्रश्नों का अवकाश नहीं रह जाता। यद्यपि अभी तक (अभी मद्रास में कॉंग्रेस-सरकार आने पर यह हटा था) उनके दरवाजे के सामने फ्रेञ्च और ब्रिटिश सी० आई० डी० का पहरा लगातार लगा रहा है, और उस मकान में घुसनेवाला व्यक्ति अपने विषय में पता लगाये जाने से अपने को बचा नहीं सकता, तो भी यह सच है कि वहाँ विशुद्ध आध्यात्मिकता के सिवाय और कुछ नहीं है। सन् उन्नीस सौ छब्बीस तक तो श्रीअरविन्द यह कहते रहे कि 'अभी नहीं', 'अभी कुछ नहीं कह सकता।' पर उसके बाद से तो वे उस महान् कार्य में लग चुके हैं, जिसका कुछ संकेत हमने ऊपर किया है। यह कार्य है एक नयी 'जाति' उत्पन्न करना, मनुष्य को देव बनाना। वे ऐसा मनुष्य तैयार कर रहे हैं जो विज्ञान-तत्त्व को प्राप्त करेगा और उसके कारण उसका मन अज्ञान और संशय की क्रीड़ा-भूमि न रहकर सत्य ज्योति का निर्मल मार्ग बन जायगा, उसका प्राण बदलकर, काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि से सर्वथा शून्य होकर कार्य करेगा और उसके शरीर का भी ऐसा रूपान्तर

हो जायगा कि वह यूँ ही मृत्यु के वश न होगा। यह बहुत भारी साधना है, इसमें शायद एक युग लग जाय; परन्तु श्रीअरविन्द जिस कार्य के लिए आये हैं, वह यही कार्य है। इसी महान् कार्य का प्रकट आरम्भ इस आश्रम की अनुमति देकर उन्होंने किया है। यद्यपि वे बोलते और मिलते नहीं हैं, तो भी लिखकर और अपनी आन्तरिक शक्ति से आश्रम का पथ-प्रदर्शन करते हैं। उनके लगभग ६ घण्टे प्रति-दिन साधकों के पत्रों के उत्तर देने में या उनकी वासरी अथवा दिन-चर्या-पुस्तकों को देखने और निर्देश लिखने में व्यतीत होते हैं। दिन-रात में शायद तीन-चार घण्टे ही वे निद्रा लेते हैं। वह सोना भी एक प्रकार से अपनी उच्च चेतना में ऊपर हटकर शारीरिक विश्राम लेना ही कहा जाना चाहिये। शेष १६, २० घण्टे वे कुछ-न-कुछ 'कर्म' करते ही हैं। ठीक बात यह है कि उनका बहुत-सा समय ध्यान व विज्ञानमय शक्ति द्वारा विविध कार्य करने में जिनमें साधकों को सहायता पहुँचाना भी है—व्यतीत होता है। दूसरे शब्दों में उनका समय [उनकी अपनी उस जगत्व्यापी साधना को उत्तरोत्तर अभिव्यक्त करने में लगता है जिस (अर्थात् विज्ञानमय शक्ति द्वारा भौतिक जगत् पर प्रभाव डालने) का अनुभव कर लेने पर वे इस तरह एकान्तसेवी हो गये हैं। वे इस समय जितना कार्य कर रहे हैं, उतना कार्य कोई साधारण पुरुष नहीं कर सकता। देश की स्वाधीनता

तो उनके इस महान् कार्य में कहीं स्वयमेव आ जायगी। उसकी कुछ चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

मेरा तो यही विश्वास है कि वहाँ पर एक बड़ा भारी आध्यात्मिक कार्य हो रहा है, जिसकी महत्ता को चाहे अभी हम नहीं समझ रहे, पर जिसे समझने का समय बड़े वेग से समीप आ रहा है।



धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे

(ले०—श्री नलिनीकान्तजी)

वर्तमान युद्ध के विषय में अध्यात्म के साधक भी उदासीन नहीं रह सकते। यह बात ठीक है कि किसी किसी अध्यात्म-साधना ने यह शिक्षा दी है कि भगवान् की चीज भगवान् को और शैतान की चीज शैतान को देनी चाहिये। इस तरह ऐहिक को आध्यात्मिक से एकदम अलग कर दिया गया है, कहा गया है कि जो लोग ऐहिक को लिये हुए हैं वे उसे ही लिये रहें, आध्यात्मिकता में उन्हें आने की कोई आवश्यकता नहीं, कोई अधिकार नहीं; और जो लोग आध्यात्मिक हैं वे आध्यात्मिकता को ही लिये रहें, ऐहिक में उन्हें आने की कोई आवश्यकता नहीं। ऐहिक और आध्यात्मिक के बीच इस प्रकार का विच्छेद होने के कारण ऐहिक सदा के लिये ऐहिक ही बना रह गया; वह अनात्म, अज्ञान, दुःख-दैन्य का चिरस्थायी साम्राज्य ही बना रह गया; आध्यात्मिकता कभी जीवन के अन्दर सजीव, जागृत एवं प्रतिष्ठित न हो सकी।

इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से साधु-संतों ने 'जगत्-हिताय' बहुत कुछ किया है। परन्तु उनका कर्म पूर्णरूप से फलदायी नहीं हो सका है, वह मिश्रित, पंगु और सामयिक-मात्र ही हो सका है। इस का कारण यह है कि उनका कर्म निम्नतर और क्षीणतर धाराओं पर अवलम्बित रहा है। प्रथम तो उनके द्वारा सांसारिक जीवन के ऊपर एक सामान्य प्रभाव पड़ने के सिवाय और कुछ भी नहीं हो पाया है—ऐहिक की आबहवा के अन्दर अन्य लोक की एक स्मृति, स्पर्श व किरण को ही उनकी साधना और सिद्धि उतार पाई है। या फिर किसी जागतिक कर्म में जब कभी वे लिप्त हुए हैं तो उनका कर्म ऐहिक के धर्म का अतिक्रमण कर बहुत अधिक परे और ऊपर नहीं जा सका है—दान, सेवा और परोपकार इत्यादि के रूप में वह नैतिक चार-दीवारी के अन्दर ही आबद्ध रहा है। व्यावहारिक जीवन में उन्होंने इस नैतिक अर्थात् मानसिक स्तर से संबद्ध आदर्श और प्रेरणा का ही एक मात्र आश्रय लेकर अपना कर्म किया है—और बहुत बार तो इस नैतिकता को ही आध्यात्मिकता समझने की भूल भी की गई है। वास्तविक आध्यात्मिक—मानसोत्तर—लोकोत्तर शक्ति के द्वारा जागतिक कर्मों के परिचालन करने का आदर्श विरल ही देखा गया है और जहाँ पर यह आदर्श देखा गया है वहाँ पर भी सम्यक् उपाय और पद्धति का आविष्कार हो पाया है या

नहीं इसमें सन्देह ही है तथापि जगत् में स्थायी परिवर्तन लाने का, मनुष्य के भाग्य को पलट देने का एकमात्र रहस्य है आध्यात्मिक अर्थात् चिन्मय शक्ति का सम्यक् आविष्कार और प्रयोग।

मानववादी (Humanist) लोगों ने एक बार कहा था कि मनुष्य के संपर्क में जो कुछ है उसमें से कुछ भी हमारे लिये पराया नहीं है, वह सब हमारे अपने राज्य के अन्दर पड़ता है। ठीक यही बात आध्यात्मिक पुरुष भी कह सकते हैं। श्रेष्ठतम या बृहत्तम आध्यात्मिकता का लक्ष्य ही होगा समग्र मनुष्य को, मनुष्य के सभी अंगों को, सभी कर्मक्षेत्रों को आध्यात्मिक सत्य और प्रेरणा के द्वारा गठित और परिचालित करना। इस आदर्श को बहुत कम ही स्वीकार किया गया है, अधिकांश क्षेत्रों में तो इसे असम्भव ही माना गया है और यही कारण है कि जगत् की ऐसी दुर्दशा हुई है!

यहाँ तक तो हमने कैफियत के रूप में कहा। अगर हम अध्यात्म के साधक हैं तो भी—और तो भी क्यों, बल्कि इसी कारण—वर्तमान युद्ध जैसे एक अत्यन्त जागतिक वा व्यावहारिक विषय में भी हमारा कुछ वक्तव्य है। यद्यपि प्राच्य की यह सुलभ ख्याति प्रसिद्ध है कि युद्ध-विग्रह की विपुल तरंगें उसके ऊपर से निकल जाती हैं और वह महान् उदासीनता के साथ केवल एक क्षण आँख उठाकर

उस ओर देख लेता है और फिर अत्यन्त गम्भीर ध्यान-निद्रा में डूब जाता है * फिर भी हम उस ख्याति के हिस्सेदार नहीं होना चाहते। अध्यात्म और ऐहिक के बीच, ध्यान और 'घोर कर्म' के बीच इस प्रकार सांप-नेवले के सम्बन्ध का जो सिद्धान्त और संस्कार है उसे तो बहुत दिन पहले ही श्रीकृष्ण ने काट दिया है। फलस्वरूप हम देखते हैं कि युद्ध-विग्रह केवल लड़ाकू लोग ही नहीं करते आ रहे हैं वरन् अवतारों ने भी इस कार्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं किया है ऐसा कहने में भी बहुत अत्युक्ति न होगी। और माँ महामाया स्वयं क्या हैं? दुष्टों का दमन करना अवतार का एक प्रधान कार्य है—सच्चिदानन्दमयी साथ ही असुर-दलिनी भी हैं।

सचमुच हम विश्वास करते हैं कि वर्तमान युद्ध वास्तव में असुर के साथ युद्ध है। यह युद्ध अन्यान्य युद्धों की तरह नहीं है—एक देश के साथ दूसरे देश का, साम्राज्य स्थापित करने की चेष्टा करने वाले एक दल के साथ दूसरे दल का जो युद्ध होता है, किसी एक राष्ट्र-विशेष का अपना

* The East bow'd low before the blast,
In patient deep disdain.
She let the legions thunder past,
And plunged in thought again.

—Mathew Arnold.

सार्वभौम प्रभुत्व स्थापित करने का जो प्रयास होता है वैसा युद्ध या प्रयास यह नहीं है। इस युद्ध का एक गम्भीरतर और भीषणतर अभिप्राय है। यूरोप के बहुत से मनीषियों ने—केवल उन लोगों ने ही नहीं जो राजनीतिक नेता या 'पालिटीशियन' हैं, बल्कि उन लोगों ने भी जो विचार के, भाव के अथवा आदर्श के राज्य में निवास करते हैं और जिन्हें वहाँ का सत्य कुछ-कुछ मालूम है, इस युद्ध के स्वरूप को हृदयंगम किया है और स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। सुनिये, आधुनिक फ्रांस के श्रेष्ठ मनीषी और उपन्यास-कार ज्यूल रोमैं (Jules Romains) क्या कहते हैं:—

"मध्य युग के अन्तिम भाग से आरम्भ कर आज तक (हम कह सकते हैं कि युग-युग में) विजय-कामी लोगों ने सम्भवतः मनुष्य की सभ्यता और शिक्षा-दीक्षा को काफ़ी हानि पहुँचायी है; परन्तु शिक्षा-दीक्षा व सभ्यता नाम की वस्तु को ही सन्देह का विषय बना डालने का दुस्साहस उनमें से किसी ने भी नहीं किया था। अनाचार-अत्याचार का समर्थन करने की चेष्टा उन्होंने भी की है, किसी आव-श्यक प्रयोजन के नाम पर; परन्तु उन्होंने क्षण भर के लिये भी ऐसा आदेश और शिक्षा देने की कल्पना नहीं की कि पराजित देश अपनी रीति-नीति और शास्त्र—सब कुछ उनके साँचे में ढाल दें।···प्राचीन इतिहास में युद्ध-विग्रह अनेक घटनाओं में से केवल एक घटना थी और यूरोप के इति-

हास में आधुनिक युग के आरम्भ से लेकर आज तक युद्ध-विग्रह का यह अर्थ नहीं रहा कि उससे मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक और नैतिक सम्पदा एक दम विलुप्त हो जाय; वंश-परम्परा से मनुष्य-जाति की साधना की गति जो स्वतन्त्रता, साम्य और मैत्री की ओर जा रही है अर्थात् मनुष्यत्व की ओर अग्रसर हो रही है वह हठात् नष्ट हो जाय।"

सम्भवतः यूरोप के मनीषी असुर की बात ठीक-ठीक नहीं जानते; उनके ऐतिह्य में 'टाइटन' (Titan) की बात होने पर भी आधुनिक मन को वे सब बातें कवि-कल्पना अथवा अधिक से अधिक प्रतीक-भर मालूम होती हैं। फिर भी असुर या 'टाइटन' के बाह्य आविर्भाव व व्यवहार के विषय में उन्होंने जितना अनुभव किया है और व्यक्त किया है वह मनुष्य की आँख खोलने के लिये काफी है। उन्होंने कहा है, यह युद्ध दो विभिन्न आदर्शों के बीच तो है ही, साथ ही वे दोनों आदर्श परस्पर इतने विभिन्न हैं कि उन्हें समान स्तर या विधान की नहीं वरन् दो पृथक् स्तरों या विधानों की चीजें कह सकते हैं। मनुष्य अपने क्रम-विवर्तन (Evolution) की धारा में जिस स्तर पर आज पहुँचा है वहाँ से उसे गिरा कर उसके पुराने स्तर के अनुरूप किसी अवस्था में बाँध रखने का प्रयास वर्तमान युद्ध का एक पक्ष कर रहा है। और इसके इस प्रयास का लक्ष्य

ठीक ऐसा ही है इस बात को भी उसने स्वयं ही स्पष्ट रूप में चिल्ला-चिल्ला कर प्रकट किया है, कुछ भी लुका-छिपा कर नहीं रखा है। आज हिटलर का 'मैन काम्फ' (Mein Kamf) नवीन व्यवस्था (New Order) का वेद, बाइबल और कुरान की अपेक्षा भी अधिक अभ्रान्त, अकपट तथा आवरणहीन धर्मशास्त्र हो रहा है।

जिस समय मनुष्य प्रायः वन-मानुष था उस समय उसकी जो प्रवृत्तियाँ थीं और जिस प्रकार की प्रवृत्तियाँ थीं—उसकी जो उग्र, अशुद्ध, अहंभाव पूर्ण प्राण-शक्ति थी जिसके अन्दर धीर बुद्धि का प्रकाश अच्छी तरह नहीं पहुँच पाया था, उसी प्राण-शक्ति के अन्दर और उन्हीं सब प्रवृत्तियों के अन्दर फिर से मनुष्य को लौटा ले जाने के लिये इस निम्न शक्ति का आज उत्थान हुआ है। यह नवीन-व्यवस्था (New Order) मनुष्य को बलवान्, केवल पराक्रमी होने को कहती है अर्थात् निर्मम, क्रूर और यूथ-बद्ध होने को कहती है। यूथ-बद्धता ही इस व्यवस्था की विशेषता है—जैसी यूथ-बद्धता (दलबन्दी) कुत्तों या भेड़ियों की होती है। एक विशेष जाति या दल या राष्ट्र—यूरोप में जर्मनी और एशिया में उसी का अनुकरण करने वाला जापान होगा प्रभु या मालिक की जाति; शेष मानव-जाति, सभी देश-देशान्तर होंगे उसके दास या गुलाम और ये सब उसके लिये पानी भरा करेंगे और लकड़ी चुना करेंगे।

प्राचीन युग में जो अवस्था थी हेलट (Helot) लोगों की, मध्य युग में जो अवस्था थी क्रीत दासों की और साम्राज्य-वाद की निकृष्टतम व्यवस्था के अन्दर जो अवस्था थी पराधीन जातियों की, उससे भी कहीं बढ़कर दीन-हीन अवस्था होगी सारी मनुष्य-जाति की। क्योंकि उन सब युगों में और व्यवस्थाओं में बाहरी अवस्था चाहे जैसी ही क्यों न रही हो, ज्यूल रोमैं के कथनानुसार, मनुष्य की ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा के विषय में कभी कोई प्रश्न नहीं उठा था, वह सदा पूर्ण मात्रा में पूज्य और वरेण्य बनी रही। वर्तमान समय की नवीन व्यवस्था में केवल दासों की अवस्था ही हेय होगी ऐसी बात नहीं, प्रभुओं की अवस्था भी व्यक्ति के रूपमें उनसे किसी कदर कम हेय न होगी। इस व्यवस्था में व्यक्ति की महिमा व स्वतंत्रता कतई स्वीकार नहीं की जायगी। इसमें समाज या दल होगा मधुमक्खियों का छत्ता या दीमकों का वल्मीक। इसमें व्यक्ति बेबस कर्मी मात्र होगा—एक विराट् कठोर यंत्र के चक्के या कील इत्यादि के रूप में रहेगा। स्वाधीन मनुष्य की स्वतःस्फुरित प्रेरणा ऊपर के और अन्दर के जिन सब लोकों को गढ़ती है—अर्थात काव्य, साहित्य, शिल्प, सुन्दर-सुकुमार, श्रीमय और ह्रीमय जो कुछ है—इन सबका निर्वासन इस व्यवस्था से कर दिया जायगा, क्योंकि ये सब शौकीनी की चीजें हैं और चित्त को दुर्बल बनाने वाली हैं। मनुष्य होगा भौतिक

विज्ञान का उपासक, उस विज्ञान का जिसका उद्देश्य है केवल प्रकृति के, जड़ प्रकृति के ऊपर प्रजा-पीड़क आधिपत्य स्थापित करना, शस्त्रास्त्रों का समारोह सजाना, व्यावहारिक जीवन व्यतीत करने के लिये सुविधा और उग्र व्यवस्था का प्रबन्ध करना—और सो भी एक भाग्यवान् दल-विशेष के लिये, उस दल के संघबद्ध जीवन के लिये, मनुष्य-जाति के लिये नहीं, व्यक्ति-मात्र के लिये भी नहीं।

इस आसुरिक शक्ति के विरुद्ध जो लोग खड़े हुए हैं—पूर्ण स्वेच्छा से न भी सही, कम-से-कम अवस्था के फेर में पड़कर जिन्हें खड़ा होना पड़ा है—उन्हीं के ऊपर आज मनुष्य-जाति का सारा भविष्य, समस्त पृथ्वी का भाग्य निर्भर करता है। परन्तु असुर के विरुद्ध खड़े होने के कारण ही वे सुर या देवता हो गये हैं ऐसा मानने का कोई कारण नहीं। तब इतना ही काफी है कि वे मनुष्य हैं, असुर नहीं। असुर का अर्थ है—प्रगति, उन्नति और विवर्तन (Evolution) का अन्त। असुर का परिवर्तन नहीं होता, वह होता है एक कठोर सांचा, विशेष गुण-कर्मों का एक अचल आधार। परन्तु मनुष्य के अन्दर परिवर्तन का होना सम्भव है। वह नीचे गिर सकता है, पर उसी तरह वह ऊपर भी उठ सकता है। पुराणों में भोगभूमि और कर्मभूमि के नाम से एक प्रकार का विभाग किया गया है। मनुष्य का आधार है कर्मभूमि, मनुष्य के

आधार के द्वारा नया-नया कर्म होता है और उस कर्म के फल से मनुष्य उन्नत या अवनत हो सकता है। भोगभूमि उस अवस्था को कहते हैं जिसमें केवल संचित कर्मों का भो.ा ही होता है—वहाँ पर नया कर्म नहीं होता, चेतना में कोई परिवर्तन नहीं होता। असुर हैं भोगमय पुरुष; उनका आधार है भोगभूमि—वे नया कर्म अर्थात् ऐसा कर्म नहीं कर सकते जिससे उनकी चेतना का परिवर्तन व रूपान्तर हो सके। उनकी चेतना स्थाणु होती है। असुरों का परिवर्तन नहीं होता, पर ध्वंस होता है। हाँ, मनुष्य के अन्दर भी आसुरी शक्ति या असुर-सदृश वृत्तियाँ और स्वभाव निश्चय ही हो सकते हैं, पर इन सबके साथ साथ मनुष्य के अन्दर कुछ और भी होता है, एक ऐसी चीज भी होती है जिसकी प्रेरणा से वह आसुरिक भाव से अपने को मुक्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त असुर के आसुरिक गुणों और मनुष्य के आसुरिक गुणों में बाह्य सादृश्य होने पर भी दोनों में एक आन्तरिक भेद होता है—दोनों के ताल, छन्द व स्पन्द (Temper, rhythm and vibration) विभिन्न होते हैं। अन्ततः मनुष्य चाहे जितना भी निष्ठुर, निर्दय, स्वार्थ-परायण और अहंभावापन्न क्यों न हो, वह यह जानता है तथा स्वीकार करता है—सब समयों में न भी सही तो कभी-कभी, बाहर में न भी हो तो भीतर में—कि ये सब भाव बिल्कुल भी आदर्शो-

चित नहीं हैं, ये हेय और त्याज्य हैं। परन्तु असुर इसलिये निर्मम होता है कि निर्ममता ही उसकी दृष्टि में उचित है, आदर्श है, यह उसका स्वभाव, स्वधर्म है, उसकी सत्ता का नियम है, उसके लिये श्रेष्ठ कल्याण की वस्तु है। बलात्कार उसके स्वभाव की शोभा है।

स्पेन ने अमेरिका में जो अत्याचार किया, रोम ने ईसाइयों के ऊपर जो अनर्थ किये, ईसाइयों ने जो ईसाइयों के साथ पाशविक व्यवहार (Inquisition) किया, अथवा भारत, आयर्लैण्ड और अफ्रीका में साम्राज्य-स्रष्टाओं ने जो करतूतें दिखलाईं वे सब गर्हित, अक्षम्य और अनेक क्षेत्रों में अमानुषिक थीं। परन्तु 'नाज़ी' जर्मनी ने पोलैण्ड में जो कुछ किया है तथा सारे जगत् में जो कार्य वह करना चाहता है, उसके साथ जब हम तुलना करते हैं तब हम देखते हैं कि दोनों में केवल मात्रागत ही नहीं प्रत्युत एक गुण-गत भेद भी वर्तमान है। एक क्षेत्र में तो यह सब मनुष्य की दुर्बलता का परिचय देता है और दूसरे क्षेत्र में असुर की प्रबलता का। यह भेद जिन्हें नहीं दिखाई देता उन्हें वर्णान्ध समझना चाहिये—ऐसे बहुत से लोग होते हैं जो गाढ़ा रंग देखते ही कहते हैं कि यह काला है और हलका रंग होने पर कहते हैं कि यह सुफ़ेद है।

क्षणिकतया असुर की सर्वत्र विजय होती है; क्योंकि उसकी शक्ति जितनी सुसंगठित व सुव्यवस्थित होती है

उतनी मनुष्य की नहीं होती, आसानी से हो भी नहीं सकती। असुर की शक्ति में छिद्र नहीं होता, वह छिद्र-रहित व ठोस होती है। मनुष्य की सत्ता और शक्ति संघर्षों और विरोधों से गठित हुई होती है, वह एक एक क़दम करके, धीमे-धीमे और मेहनत के साथ, क्रमिक पवित्रीकरण की प्रक्रिया के द्वारा प्रगति करता है, वह उद्योग और संघर्ष के साथ आगे बढ़ता है। मनुष्य की शक्ति असुर की शक्ति के विरुद्ध उतनी ही मात्रा में विजयी होती है जितनी मात्रा में वह देवशक्ति की धारा में अपने आप को सिंचित करती हुई चलती है। परन्तु जगत् में देवता, देवशक्तियाँ पीछे अवस्थित हैं, क्योंकि अभी तक सामने का व्यावहारिक क्षेत्र असुरों के ही प्रभाव में है। बाह्यक्षेत्र, स्थूल आधार—देह, प्राण, मन—अज्ञान के द्वारा, अहंबोध के द्वारा तथा मिथ्याचार के द्वारा गठित हुआ है, इसी लिये असुर अनायास ही वहाँ अपना प्रभाव व आधिपत्य स्थापित कर लेता है और कर भी चुका है। मनुष्य सहज ही असुर का यंत्र बन जाता है—बहुधा अनजाने ही ऐसा होता है। और इसी कारण आज पृथ्वी असुर के हस्तगत हो रही है। देवता के लिये पृथ्वी को अधिगत करना, पार्थिव चेतना के ऊपर किसी प्रकार का अपना प्रभाव स्थापित करना उद्यम, साधन और समय की अपेक्षा रखता है।

प्राचीन-काल में मनुष्यों के घोर कर्मों पर—विशेषतया जब उन्होंने सूत्रबद्धता या दलबन्दी के साथ काम किया—आसुरिक प्रभाव अधिकांश क्षेत्रों में पड़ा था इसमें संदेह नहीं। परन्तु आज तो यह कहना पड़ता है कि असुर या असुरगण स्वयं ही उतर आये हैं और एक प्रबलतया संगठित मानव-समाज को अधिकृत कर, अपने ही सांचे में उसे ढालकर पृथ्वी के ऊपर पूर्ण विजय की—विश्वमेध-यज्ञ की पूर्णाहुति करने का प्रयास कर रहे हैं।

हमारी दृष्टि यह कहती है कि आज जो महासमर चल रहा है उसी के परिणाम पर मनुष्य का सारा भविष्य, पार्थिव जीवन का समस्त मूल्य निर्भर करता है। मनुष्य इतने दिनों तक जिस क्रमिक उन्नति व क्रम-विकास की धारा में अग्रसर होता आ रहा है—चाहे कितनी ही धीमी गति से क्यों न हो, चाहे कितने ही संदेह-भरे प्राण-मन से क्यों न हो—उसी धारा में क्या वह अवश्य ही पूर्ण सिद्धि की ओर, पूर्णतर, शुद्धतर व मुक्ततर ज्योतिर्मय जीवन की ओर आगे बढ़ता रह सकेगा या उसका वह मार्ग बन्द ही हो जायगा, और परिणामतः वह अपनी पुरानी पाशविक अवस्था की ओर या उससे भी निकृष्ट गति की ओर, असुर के शिकञ्जे में कस कर अंध और असहाय दास-जीवन व्यतीत करने के लिये या आत्मा को खोकर, असुर ही बन कर, 'कबन्ध' दैत्य की तरह मस्तक-रहित धड़

बन कर, जीवन बिताने के लिये अधोगति को प्राप्त करेगा ? यही समस्या आज हमारे सामने उपस्थित है।

हमारी दृष्टि के अनुसार आज का महायुद्ध देवता के यंत्र भूत मनुष्य और असुर के बीच हो रहा है। इसमें संदेह नहीं कि असुर की तुलना में मनुष्य दुर्बल है—पार्थिव क्षेत्र में; परन्तु मनुष्य के अन्दर भगवान् विराजमान हैं, इस भागवती शक्ति और बल-वीर्य के सामने असुर का कोई बल-विक्रम अन्त तक नहीं टिक सकता। जो मनुष्य असुर के विरुद्ध खड़ा , वह खड़ा होने के कारण ही देवता के पक्ष का हो गया है, भागवत आशीर्वाद उसके साथ है। युद्ध के इस स्वरूप के विषय में हम जितने ही सचेतन होगे और सचेतन होकर सतत उन्नतिशील शक्ति के पक्ष में, दिव्य शक्ति के पक्ष में खड़े होंगे उतनी ही मनुष्य के अन्दर देवता की विजय अवश्यम्भावी होती जायगी, उतनी ही आसुरिक शक्ति क्षीण हो हो कर पीछे हटती जायगी। अगर अज्ञान के वश होकर, अंध-वासना, संकुचित दृष्टि और विवेक-शून्य पक्षपात के वश होकर हम पक्ष और विपक्ष में कोई भेद न करेंगे तो हम मनुष्य को भीषण दुर्दशा को निमंत्रित करेंगे।

इस युग-संकट के समय भारत की भी भाग्य-परीक्षा हो रही है। भारत की स्वाधीनता भी उतनी ही मात्रा में अनिवार्य हो सकेगी जितनी मात्रा में वह वर्तमान युद्ध के

अन्तर्निहित अर्थ तथा स्वरूप को हृदयंगम कर सकेगा और ज्ञानपूर्वक देवशक्ति के पक्ष में खड़ा हो सकेगा, जितनी मात्रा में वह भागवती शक्ति का यंत्र बन सकेगा। यह यंत्र वर्तमान समय में आपाततः चाहे जितना भी दोषपूर्ण, त्रुटिपूर्ण क्यों न मालूम हो, इसके अन्दर भगवत्-प्रसाद का, दिव्य आशीर्वाद का स्पर्श पहुँच चुका है और इस कारण वह सभी विघ्न बाधाओं को पार कर अजेय विजयी होकर रहेगा। इसी कारण तो भागवत कृपा के बारे में यह प्रसिद्धि है कि 'पंगुं लंघयते गिरिम्'—उसके द्वारा लंगड़ा भी पर्वत को लांघ जाता है। परन्तु भारत की स्वाधीनता आज इस बात पर निर्भर करती है कि वह किस पक्ष को चुनता है।

आज भारत की अन्तरात्मा के सामने एक महान् सुअवसर, एक 'माहेन्द्र मुहूर्त' उपस्थित हुआ है। अगर उसने अपना ठीक पथ चुन लिया, कुपक्ष के विरुद्ध खड़े होकर सुपक्ष का आलिंगन कर लिया तो उसकी युग-युगान्तर-व्यापी साधना पूर्णतया सार्थक हो जायगी। जिस अमूल्य संपदा को, अध्यात्म की जिस संजीवनी शक्ति को मानव जाति की मुक्ति के लिये, पृथ्वी के रूपान्तर (Transformation) के लिये वह अपनी साधु-संत-मंडली की साधना-परम्परा के द्वारा जीवित रखता चला आ रहा है, पुष्ट करता आ रहा है, जिस वस्तु के लिये ही भारत का

अस्तित्व है और जिसे खो देने पर भारत का कोई अर्थ ही नहीं रह जायगा, पृथ्वी और मानव-जाति भी अपनी सारी सार्थकता खो बैठेगी, अपनी उस अमूल्य सम्पदा को आज इस अग्नि-परीक्षा के समय हम भारतवासी पहचानेंगे या नहीं, उसकी रक्षा के लिये अन्तिम तौर पर निश्चित मार्ग का चुनाव करेंगे या नहीं? भगवान् के लिये सरल और निष्कण्टक पथ बनायेंगे या नहीं? आज के इस जगद्व्यापी युद्ध में एक पक्ष की विजय होने पर भगवान् का पथ—उन्नति, विकास और पूर्णता का पथ—खुला रहेगा, विशाल और निर्विघ्न हो जायगा, सुरक्षित हो जायगा और दूसरा पक्ष विजयी होने पर वह पथ सम्भवतः चिरकाल के लिये—कम से कम अनेक युगों के लिये—बंद हो जायगा। केवल बाह्य दृष्टि से नहीं, सुविधा की चाल या कूटनीति के छल का आश्रय लेकर नहीं, वरन् अन्तर की निर्निमेष चेतना के द्वारा हमें न्याय्य और अन्याय्य पक्ष को पहिचानना चाहिये, अपनी समग्र सत्ता के द्वारा सुपक्ष का वरण करना चाहिये और कुपक्ष का विरोधी होना चाहिये। जिसे मित्रपक्ष कहा जाता है वही हमारा वास्तविक मित्रपक्ष है, उस पक्ष के लोगों में हजारों-लाखों दोष वा त्रुटियाँ होने पर भी वे ही उस सत्य के पक्ष में खड़े हुए हैं जिस सत्य का आविर्भाव और विजय हम कराना चाहते हैं। अतएव वे ही हमारे स्व-पक्षी हैं, काय-मन-वचन से उन्हीं का संगी-

साथी होकर हमें खड़े होना चाहिये, अगर हम 'महती विनष्टिः' से—महान् विनाश से—रक्षा पाना चाहते हैं।

दुर्योधन के पक्ष में थे उसके सौ भाई, और थे भीष्म, द्रोण, कर्ण जैसे अनेक महारथी, फिर भी, चाहे जितने दुःख-कष्ट के बाद हुई हो और चाहे जितने दीर्घकाल के बाद हुई हो, अन्त में जय हुई पाँच पांडवों की ही, क्योंकि उनके पक्ष में थे श्रीकृष्ण। जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण और धनुर्धर पार्थ अर्थात् जहाँ भगवान् और उनका यंत्र-भूत आदर्श मनुष्य होता है वहाँ अव्यर्थ विजय, पूर्ण सिद्धि और श्री रहती हैं। हम किस पथ से जा रहे हैं, किस पथ से चलेंगे—यही प्रश्न हमारी विधि-लिपि में अग्निमय अक्षरों में देदीप्यमान हो रहा है। हमारा कार्य आज इस का क्या उत्तर देगा?



माँ का आवाहन-गीत

[श्री नारायणप्रसाद]

आओ मैया आओ ।
हृदय गगन में आओ ॥

अन्तस्थ शत्रु से मुक्त कर माँ ! सुप्त शक्ति उन्मुक्त कर ।
शिव-विश्व-चेतना युक्त कर अपनी ज्योति जगाओ ॥

आओ मैया आओ ।
हृदय कमल पर आओ ॥

आँखोंकी, मनकी स्तरी उठा सबमें, तू अपनी झलक दिखा ।
मेरा मैं, मुझसे दूर हटा घट घट में छा जाओ ॥

आओ मैया आओ ।
अपना रूप दिखाओ ॥

हमको, अघनाशक खड्ग बना अज्ञान विनाशी दीप बना ।
अपने हाथों का यंत्र बना अपना कार्य कराओ ॥

आओ मैया आओ ।
रग रग में रम जाओ ॥

माँ

(लेखक—श्री हरिदास चौधरी)

कभी-कभी हम विश्वपिता के रूप में भगवान् की कल्पना करते हैं और कभी-कभी विश्वजननी के रूप में उनकी वन्दना करते हैं, पूजा करते हैं। और कभी-कभी पिता और माता, 'सः' और 'सा' दोनों को उस परम सत्य का बोध कराने में असमर्थ समझ कर 'ओ३म् तत् सत्' के रूप म उसका निर्देश करने की चेष्टा करते हैं। ईसाई-धर्म में भगवान् प्रधानतः पिता के रूप में पूजे जाते हैं; वे अनंत विश्व के स्रष्टा और करुणामय त्राता हैं, वे सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान और सर्वमंगलमय हैं। हमारे तन्त्र-शास्त्र में माता के रूप में या जगदम्बा के रूप में भगवान् की पूजा करने का विधान है, और वेदों तथा उपनिषदों में वे प्रधानतः अव्यक्त, अनिर्वचनीय ओ३म् कहे गये हैं।

सत्य को यदि हम समग्र रूप में ग्रहण करें तो हमें मालूम होगा कि ऊपर कही गई तीनों दृष्टियों में कोई भी मिथ्या या काल्पनिक नहीं है। सत्य के अनन्त रूप हैं;

भगवान् एक साथ ही विभिन्न अवस्थाओं में विराजते हैं। अपनी सर्वोच्च अवस्था में वे सब प्रकार के व्यक्त रूपों के परे अनिर्देश्य, परात्पर हैं—दुर्भेद्यरहस्यावृत हैं। उनकी यह परम अव्यक्त अनिर्देश्य अवस्था ही 'ओ३म् तत् सत्' के रूप में वर्णित है। परन्तु एक ही अखण्ड भगवान् या पुरुषोत्तम एक दूसरी अवस्था में अनन्त-गुण-सम्पन्न सगुण ब्रह्म होकर विराजते हैं; सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कर्त्ता के रूप में अवस्थान करते हैं। ये सगुण ब्रह्म ही विश्वपिता, सर्वलोकविधाता हैं। फिर प्रत्येक अवस्था में ही भगवान के दो प्रधान दिक् या विभाव (Aspects) होते हैं: एक उनकी निःस्पन्द, निष्क्रिय सत्ता का दिक् (Static aspect); दूसरा उनकी चिरचंचल सक्रियता का दिक् (Dynamic aspect)। एक ओर तो वे अक्षुब्ध, प्रशान्त, आत्म-समाहित, स्वयं-सम्पूर्ण शिव हैं और दूसरी ओर उच्छ्वासमयी, लीलापरायणा, नित्य नवीन छन्द में प्रकाशोन्मुखा शक्ति हैं। भगवान् के इस लीलामय शक्ति-रूप की ही कल्पना हम माँ के रूप में करते हैं।

'माँ' शब्द का उच्चारण करने पर हमारे मन में जो भाव उठते हैं उनमें प्रधान चार हैं। प्रधानतः, माँ हैं शक्ति-स्वरूपिणी और सृष्टिमयी। इसी कारण भागवती शक्ति अखिल विश्व के चरम स्रोत और मूल कारण के रूप में जगदम्बा हैं, चराचर विश्व की वह जननी हैं। द्वितीयतः,

माँ केवल सृष्टिमयी ही नहीं हैं बल्कि वही चैतन्यमयी शक्ति भी हैं, वह चिद्रूपिणी हैं। सांख्य की प्रकृति सृष्टिमयी है—जगत् की अनन्त परिणाम-धाराओं का उपादान कारण और मूल स्रोत है—किन्तु फिर भी हम उस प्रकृति को 'माँ' कह कर नहीं पुकार सकते, क्योंकि सांख्यकार ने प्रकृति को जड़ात्मिका और अचेतन-स्वभावा कहा है। मायावादियों की माया-शक्ति के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। माया विश्व-सृष्टि का एकमात्र कारण होने पर भी अविद्यात्मिका है और इस कारण वह माँ का आसन नहीं ग्रहण कर सकती। बहुत से पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी यह स्वीकार किया है कि एक महाशक्ति ही जगत् की सृष्टि का मूल कारण है। हक्सले (Huxley), टींडल (Tyndall) आदि उस शक्ति को एक अंध जड़ शक्ति मानते हैं; हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert spencer) के मतानुसार वह एक अज्ञात और अज्ञेय, अनिर्देश्य शक्ति (Unknown and unknowable Power) है; (Schopenhauer) के मत में वह एक निश्चेतन संकल्प-शक्ति (Unconsious Will) है; और हेनरी बर्गसन (Henri Bergson) उसको प्राणमय सर्जन-शक्ति (Vital impetus) कहते हैं। सभी पाश्चात्य शक्ति-पुजारियों की दृष्टि में विश्व की मूल शक्ति निश्चेतन है; अतएव वह शक्ति सृष्टिमयी होने पर भी मातृ-स्वरूपिणी

नहीं है। तृतीयतः, माँ स्नेह और करुणा की ज्वलन्त मूर्त्ति हैं। माँ के सामने सन्तान अपने हृदय का बन्द द्वार बिना किसी संकोच के खोल सकती है और माँ भी असीम स्नेह के वश होकर सन्तान के हजारों दोषों और त्रुटियों को क्षमा कर सकती हैं और उसे परम कल्याण के मार्ग पर ले जा सकती हैं। भागवती शक्ति भी इसी कारण माँ हैं, वह केवल सृष्टिमयी और चिन्मयी नहीं हैं अपितु साथ ही अपार करुणामयी भी हैं। उन्हीं की कृपा से मनुष्य का अविद्याजन्य बन्धन छिन्न होता है और ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त होता है। वही मध्यस्था होकर स्नेहजात असीम धैर्य के साथ जीव का हाथ पकड़ कर उसे मानो परम सत्य के पास ले जाती हैं। चतुर्थतः, माँ सत्यानुगामिनी हैं। माँ सभी कार्यों को पिता के आश्रय में ही करती हैं और पिता की अनुमति लेकर करती हैं। भागवती शक्ति के विषय में भी ठीक यही बात कही जा सकती है। आद्या शक्ति केवल शिव की विराट् सत्ता का आश्रय लेकर ही लीलामयी हो सकती हैं तथा सृष्टि-स्थिति-प्रलय आदि सभी कार्य वह परम पुरुष की अनुमति लेकर ही, उनकी इच्छा पूरी करने के लिये ही किया करती हैं। शक्ति की सक्रियता सम्पूर्ण रूप से शिव की अनुमति पर ही निर्भर करती है। आधुनिक युग के बहुत से दार्शनिक इस विषय में शक्ति को पूर्णरूपेण स्वाधीन मानते हैं। कोई-कोई तो यहाँ तक

कहते हैं—जैसे फिश (Fichte), बर्गसन (Bergson), जेंटिल (Gentile) आदि—कि सत्ता शक्ति की ही सृष्टि है, जो कुछ हम स्थितिशील देखते हैं वह सब एक चिर-चंचल सर्जन-शक्ति से ही उत्पन्न हुआ है। परन्तु सृष्टिमयी शक्ति को जब हम माँ कहते हैं तब उस शक्ति के आश्रय-स्वरूप एक परम पुरुष को भी स्वीकार करते हैं और हम विश्वास करते हैं कि परम पुरुष की ही अनुमति लेकर, उन्हीं के अन्दर निहित सत्य-समूह को रूपान्वित करने के लिये भागवती शक्ति कर्म में प्रवृत्त होती हैं।

श्रीअरविन्द ने अपनी 'माता' नामक पुस्तक में आरम्भ में ही कहा है कि पूर्णयोग की सिद्धि प्राप्त करने के लिये दो वस्तुओं की आवश्यकता है—नीचे से भागवत जीवन प्राप्त करने के लिये साधक की आन्तरिक अभीप्सा ऊपर उठनी चाहिये और ऊपर से भागवती शक्ति की करुणा या प्रसाद का अवतरण होना चाहिये। साधक की अभीप्सा पूर्ण शुद्ध तथा एकमात्र भगवन्मुखी होनी चाहिये। इस अभीप्सा (Aspiration) के स्वरूप को हम एक ओर आकांक्षा या कामना (Ambition or desire) से और दूसरी ओर व्याकुलता से अलग करके समझने की चेष्टा करेंगे। आकांक्षा या कामना हमारी प्राणमय सत्ता की अभिव्यक्ति है, हमारा चित्तविक्षोभ है। परन्तु अभीप्सा सूचित करती है हमारे हृतपुरुष का जागरण। आकांक्षा अहंमुखी होती

है चाहे वह कितने ऊँचे प्रकार की क्यों न हो। हम धन चाहते हैं, मान चाहते हैं, अपना अधिकार, पद्प्रतिष्ठा चाहते हैं—यह सब हमारे क्षुद्र अविद्याच्छन्न 'अहं' की तृप्ति के लिये ही होता है। परन्तु अभीप्सा अहंकार का समूल नाश करती है और एकमात्र भगवान् के प्रति ही हमें आकृष्ट करती है, भगवान् को ही केवल जीवन के ध्रुवतारा के रूप में निर्दिष्ट करती है। परन्तु भगवान् को पाने के लिये साधक के मन में बहुत बार एक प्रकार की अस्थिरता या व्याकुलता का भाव उत्पन्न होता है। इस अस्थिरता का मूल कारण होता है भागवती शक्ति के ऊपर पूर्ण निर्भरशीलता का अभाव। अभीप्सा सब प्रकार के अधैर्य और अस्थिरता से मुक्त होनी चाहिये। भगवान् के ऊपर पूर्णरूपेण निर्भर-शील होकर, अन्तर में अभीप्सा की निष्कम्प ज्योति प्रज्वलित करके साधक को धीर-स्थिरभाव से दिव्य जीवन की प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर होना चाहिये।

भागवत जीवन प्राप्त करने के लिये साधक की अटूट अभीप्सा अत्यावश्यक, अपरिहार्य है, परन्तु वही पर्य्याप्त नहीं है। मां की करुणा या प्रसाद के बिना सिद्धि कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। संसार के प्रायः सभी धर्मों ने भगवत्प्रसाद की आवश्यकता को स्वीकार किया है। सिद्ध महापुरुष अपने सारे अन्तःकरण से यह अनुभव करते हैं कि अनन्त का सामीप्य प्राप्त करने के लिये सीमाबद्ध जीव

की अकेली चेष्टा या तपस्या कभी पर्याप्त नहीं हो सकती चाहे वह तपस्या कितनी ही कठोर तथा निरवच्छिन्न क्यों न हो। परन्तु पूर्णयोग की साधना में भगवत्प्रसाद की आवश्यकता सबसे अधिक है। इस योग में भगवान् का साक्षात्कार प्राप्त करना ही एकमात्र लक्ष्य नहीं है; पूर्णयोगी चाहता है भगवदनुभूति की सम्पदा को बाहर में प्रकट करना, सृष्टि के अन्दर भगवान् की लीलामयी इच्छा को पूर्ण करना। भगवान् का सामीप्य या सायुज्य ही प्राप्त करना जिनका एक मात्र उद्देश्य है वे निम्न प्रकृति के आमूल परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं समझते। किन्तु पूर्णयोगी के लिये निम्न-प्रकृति का आमूल परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उसने अपने जीवन में भागवत ऐश्वर्य को पूर्णरूप से विकसित करने का व्रत ग्रहण किया है। इसी कारण पूर्णयोगी का प्रधान लक्ष्य है अपने आधार का सर्वांगीण रूपान्तर साधित करना, अपनी समग्र जीवनधारा को एक अपूर्व नवीन छन्द से भर देना। इस रूपान्तर को साधित करने के लिये, इस दिव्य छन्द से जीवन को झंकृत करने के लिये आवश्यकता है मां की पूर्ण कृपा की और पग-पग पर उन्हीं की अप्रतिहत शक्ति की सहायता की। इस कार्यसिद्धि में साधक की व्यक्तिगत चेष्टा बहुत कम ही सहायता कर पाती है।

भगवत्कृपा प्राप्त करने का उपाय

भागवती शक्ति की पूर्ण कृपा प्राप्त करने के लिये साधक को कुछ शर्तों का पालन करना पड़ता है। वे शर्तें हैं आत्मसमर्पण (self-surrender), आत्मोन्मीलन (self-opening) और सदसद्विवेक (discrimination which consists of selection and rejection)। आत्मसमर्पण या आत्मनिवेदन ही भगवत्प्रसाद प्राप्त करने का मूल मंत्र है। मनुष्य जितनी मात्रा में भगवान् के प्रति आत्मोत्सर्ग करता है उतनी ही मात्रा में भगवान् भी मनुष्य की पकड़ में आ जाते हैं। जितनी मात्रा में साधक की व्यक्तिगत इच्छा-अनिच्छा, वासना-कामना प्रबल हो उठती है उतनी ही मात्रा में भागवती शक्ति भी दूर चली जाती हैं, साधक-के आधार को अपने हाथों गढ़ने का सुयोग नहीं पातीं। साधक का आत्मसमर्पण सक्रिय और स्वतः प्रेरित (active and voluntary) होना चाहिये तथा निःशेष और सर्वांगीण (unreserved and total) होना चाहिये। बहुत से लोग ऐसा समझते हैं कि एक बार जब साधना का भार मांके हाथों में सौंप दिया, मां के शरणापन्न हो गये तब तो वही सब कुछ कर लेंगी, आत्मसमर्पण का ठीक-ठीक भाव भी तो वही जागृत कर सकती हैं। इस प्रकार की माँग और मनोभाव को तामसिकता और आत्मप्रवंचना के सिवाय और कुछ नहीं कह सकते। आत्मप्रवंचना कहने

का कारण यह है कि जो लोग इस प्रकार की माँग पेश करते हैं वे मांके हाथ में साधना का भार सौंप देने के बहाने अपने अहंकार की परितृप्ति में प्रवृत्त होते हैं और कामनामय जीवन यापन करते हैं। माँ की करुणा प्राप्त करने के लिये स्वयं इच्छा-पूर्वक सक्रिय रूप में अपने-आपको माँ के हाथों में सौंप देना होगा। केवल इसी शर्त पर माँ हमारी साधना का भार ग्रहण कर सकती हैं। अन्यथा निश्चेष्ट तामसिक आत्मनिवेदन के फलस्वरूप यदि कोई पूर्णता प्राप्त भी हो तो वह होगी यंत्र जैसी पूर्णता (mechanical perfection), विशुद्ध आध्यात्मिक पूर्णता नहीं। उसके बाद माँ के प्रति साधक का आत्म-समर्पण होना चाहिये निःशेष और सर्वांगीण। बहुत बार ऐसा देखा जाता है कि साधक के अन्तःपुरुष ने तो माँ के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है, यहाँ तक कि उसके मनने भी आत्मोत्सर्ग कर दिया है, किन्तु उसकी प्राणमय सत्ता अपनी भोग-पिपासा को उत्सर्ग करना नहीं चाहती, अथवा उसका स्थूल शरीर अपने चिरपरिचित अभ्यास के अनुसार ही तथा अपने अंध संस्कार के वश होकर ही चल रहा है। ऐसी अवस्था में आधार का सम्यक् रूपान्तर कदापि नहीं हो सकता। जीवन के सभी अंगों को, सत्ता के सभी स्वरों को, प्राण के सभी स्पन्दनों को, शरीर की समस्त गतिविधियों को निस्संकोच मां के निकट पुष्पांजलि

की तरह उत्सर्ग कर देना होगा, केवल तभी पूर्ण रूपान्तर का स्वप्न सफल हो सकता है।

मातृ-करुणा प्राप्त करने की पहली शर्त्त है आत्मसमर्पण, फिर उसके बाद चाहिये आत्मोन्मीलन और सदसद्विवेक। मां की शक्ति को अपने अन्दर कार्य करने के लिए आवाहन करके उसके ऊपर अविद्याजनित कोई शर्त्त लाद देने से काम नहीं चल सकता; ऐसी मांग पेश करने से काम नहीं चल सकता कि मां को हमारी पसंद के अनुसार निर्दिष्ट पथ या निर्दिष्ट विधि से ही कार्य करना होगा। ऐसा करने से साधना का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जायगा। मां अपनी इच्छा से कार्य करेंगी, अबाध स्वच्छन्द गति से कार्य करेंगी। तभी हमारा आत्मसमर्पण शुद्ध हो सकेगा और साधना भी सहज और अबाध गति से अग्रसर हो सकेगी। आत्मोन्मीलन का अर्थ है सत्ता के विभिन्न अंगों को माँ की शक्ति और ज्योति की ओर खोल देना जिसमें माँ की कृपा से आधार का सर्वांगीण रूपान्तर साधित हो सके। एक ओर या सत्ता के एक अंश में माँ की ओर अपने को खोलकर दूसरी ओर विरोधी शक्तियों के लिए द्वार उन्मुक्त कर देना सिद्धि को अत्यन्त दूर भेज देना, व्याघात डाल देना है। जो मंदिर माँ के लिए उत्सर्ग किया गया है उस के अन्दर सत्य और मिथ्या, अंधकार और प्रकाश एक साथ कभी नहीं रह सकते। इसी कारण साधना में सदा-

सर्वदा सजग रहने की आवश्यकता है, विचार-विवेक रखने की आवश्यकता है, सुदृढ़ संकल्प रखने की आवश्यकता है जिसमें केवल सत्य को ही ग्रहण किया जाय और मिथ्या का सब प्रकार से त्याग किया जाय। माँ की कृपा से जो ज्योतिर्मय सत्य ऊपर से नीचे उतरे केवल उसी को वरण करना चाहिए तथा जो कुछ अनृत है,— मन के संस्कार, मतामत, बौद्धिक रचनाएँ आदि, प्राण की भोगवासनाएं, माँगें, संकीर्णताएं, गर्व, ईर्ष्या आदि तथा शरीर की मूढ़ता, तामसिकता, संशय, अविश्वास, परिवर्तन की अनिच्छा इत्यादि—इन सब को निर्मम होकर समूल नष्ट कर देना चाहिए।

आत्म-समर्पण और व्यक्तिगत चेष्टा

हमने पहले ही कहा है कि पूर्ण आत्म-समर्पण तथा आत्मोन्मीलन के द्वारा भागवती शक्ति को आधार के अन्दर अव्याहत रूप से कार्य करने देने पर ही दिव्य रूपान्तर साधित हो सकता है। इसी कारण पूर्णयोगी की चेष्टा होगी अपनी व्यक्तिगत तपस्या के बदले धीरे-धीरे भागवती शक्ति को उनकी इच्छा के अनुसार अपने अन्दर कार्य करने की सुविधा देना। तो क्या आत्म-समर्पण-योग में साधक की अपनी चेष्टा की कोई भी आवश्यकता नहीं ? यह प्रश्न यहाँ पर बहुतों के मन में उठ सकता है। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर क्या हो सकता है, इसका अनुमान

करना उतना कठिन नहीं। आत्म-समर्पण योग के साधक का चरम लक्ष्य है ऐसी एक अवस्था प्राप्त करना जिसमें व्यक्तिगत चेष्टा की कोई आवश्यकता न रहे, उसके लिये बिल्कुल अवकाश न रहे, जिसमें साधक दिव्य शक्ति की अनन्तमुखी कर्मधारा का केवल केन्द्र बन जाय। किन्तु इस चरम अवस्था को प्राप्त होना केवल तभी सम्भव होगा जब साधक का समस्त आधार सम्यक् रूप से शुद्ध और पवित्र हो जायगा, जब उसकी समग्र सत्ता दिव्य प्रतिमा के रूप में परिणत हो जायगी। इससे पहले व्यक्तिगत चेष्टा और निरन्तर जागरुकता का अभाव होने पर असावधानी के किसी भी मुहूर्त्त में विरोधी शक्ति आकर साधक को प्रभावान्वित कर सकती है। इस कारण जब तक निम्न प्रकृति सक्रिय हो तब तक साधक की व्यक्तिगत चेष्टा की आवश्यकता है। इस व्यक्तिगत चेष्टा का प्राण है अभीप्सा, परिवर्जन और समर्पण। एक ओर पूर्णयोगी जिस तरह भगवान् को ही अपने भीतर वास्तविक साधक के रूप में अनुभव करेगा और उन्हीं की शक्ति को अबाध गति से सक्रिय करने की चेष्टा करेगा, इसी तरह दूसरी ओर वह आधार के पूर्ण शुद्ध हो जाने के ठीक अन्तिम मुहूर्त्त तक निःशेष आत्म-समर्पण करने की चेष्टा करेगा, मिथ्या का मूलोच्छेद कर डालने का प्रयत्न करेगा और अपने अन्तःकरण में दिव्य जीवन प्राप्त करने की अभीप्सा को सदा जीवित-जागृत बनाये रखेगा।

जीवन का रक्षा कवच

विपत्संकुल जीवन-पथ में एकमात्र अव्यर्थ रक्षा-कवच है माँ भगवती की कृपा। यदि माँ की कृपा प्राप्त हो जाय तो फिर साधक जीवन के सभी आँधी-तूफ़ानों के अन्दर से होकर, सभी दुर्दिनों और संकटों से होकर निर्भय अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकता है। इस कृपा को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है अपने अन्तःकरण को श्रद्धा, अनन्यता और आत्मोत्सर्ग के भाव से पूर्ण कर रखना। हमारी श्रद्धा होनी चाहिये शुद्ध, सरल और निर्दोष। बहुत बार श्रद्धा अहंकार और कामना द्वारा कलुषित, हो जाती है; हमारा मन और प्राण गर्व और आत्मम्भरिता से फूल उठता है और हम अपनी निम्न प्रकृति की क्षुद्र भोगतृष्णा को तृप्त करने के लिये माँग पेश करते हैं। वास्तविक श्रद्धा अन्तः-पुरुष की सम्पदा है। उस विशुद्ध श्रद्धा को प्राप्त करने पर हमारे जीवन का एकमात्र व्रत होगा दिव्य कर्म और दिव्याभिव्यक्ति; हमारे लिये आकाँक्षा की एकमात्र वस्तु होगी दिव्य चेतना की शक्ति, शान्ति, ज्योति और आनन्द तथा देह-प्राण-मन का दिव्य रूपान्तर; हमारी एकमात्र माँग होगी पृथ्वी के ऊपर अतिमानस सत्य की शाश्वत प्रतिष्ठा। इसी प्रकार हमारी अनन्यता और आत्मोत्सर्ग भी निर्मल और अखण्ड होना चाहिए। अपनी सत्ता के किसी अंश को, अपनी साधना की किसी शक्ति

को हमें अहं के लिये अथवा अन्य किसी अदैवी शक्ति के लिये सुरक्षित नहीं रख छोड़नी चाहिए। हमारी श्रद्धा, अनन्यता और समर्पण जितने परिमाण में शुद्ध और पूर्ण होंगे उतने ही परिमाण में माँ की कृपा और अभय-वरदान को हम प्राप्त कर सकते हैं। माँ की अभयवाणी प्राप्त कर लेने पर कोई भी बाधा-विपत्ति, कोई भी विरोधी शक्ति, वह चाहे जितनी भी दुर्धर्ष क्यों न हो, साधक को स्पर्श तक नहीं कर सकती, बल्कि माँ की कृपा से सङ्कट सुयोग बन जाता है, व्यर्थता-दुर्बलता सार्थक अमोघ सामर्थ्य के रूप में परिणत हो जाती है। क्योंकि माँ की कृपा के अन्दर प्रकाशित होता है विधाता का सर्वजयी अव्यर्थ विधान—परमेश्वर की अनुमति। (क्रमशः)

(श्री अरविन्द-पाठमन्दिर से)

संकटकाल

[यह लेख गतवर्ष अक्तूबर मास में लिखा गया था। परन्तु कहीं प्रकाशित नहीं हो सका था। यह मनोरंजक बात है कि कभी तो मेरे लेख अख़बारों में इसलिये नहीं छपते थे क्योंकि वे सरकार के विरुद्ध होते थे, पर यह लेख इस लिए नहीं छापा जा सका क्योंकि साधारण लोकमत के विरुद्ध था। अस्तु, पाठक इस लेख को इस दृष्टि से पढ़ें कि यह अब से चार मास पूर्व उस समय का लिखा हुआ है, जबकि धुरी-राष्ट्रों की विजय होती दीखती थी और बहुत ही सङ्कटकाल था। वैसे तो परमेश्वर की कृपा से अगले ही मास से, नवम्बर से सम्मिलित राष्ट्रों की विजय होनी प्रारम्भ हो चुकी है और अब पूर्णरूप से हो रही है तथा सङ्कट बहुत कुछ टल चुका है, फिर भी इस लेख को अब भी इस लिये प्रकाशित किया जा रहा है क्योंकि इस लेख में व्यापक भावना की तथा वैसी ही मनोवृत्ति बनाने की एवं आचरण करने की अब भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी तब थी, और यह तब तक रहेगी जब तक कि युद्ध समाप्त नहीं हो जाता, सम्मिलित राष्ट्रों की विजय में समाप्त नहीं हो जाता।

आशा है हम, जिन्हें भारतवासी होने का सौभाग्य प्राप्त है, अब भी इस विषयक अपने कर्तव्य को पहिचानेंगे।

इस विषय को अच्छी तरह समझने के लिए मैं पाठकों का ध्यान श्री नलिनीकान्त जी के विद्वत्तापूर्ण तथा ज्ञानपूर्ण लेख 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' की तरफ़ विशेषतया आकृष्ट करता हूँ जो इसी अङ्क में ४० पृष्ठ पर छपा है।—अभय]

१ जगत् की रक्षा या भारत की स्वाधीनता

महात्मा गाँधी का, साधारण लोगों के विपरीत, यह कहना रहा है कि यदि भारत हिंसा द्वारा स्वराज्य के लिये कटिबद्ध होगा तो उनकी आहत, रुधिरप्लवित आत्मा हिमालय में शरण खोजेगी, ऐसा स्वराज्य कभी सच्चा स्वराज्य नहीं होगा। क्योंकि उनकी दृष्टि में अहिंसा हमारे राजनैतिक स्वराज्य की अपेक्षा बहुत बड़ी चीज़ है। इसे पूरी तरह सब समझें, मानें या न मानें पर इतना तो सब मानेंगे कि इसी तरह अन्य ऐसी वस्तुएँ ज़रूर हो सकती हैं और अनेक हो सकती हैं जो कि सचमुच स्वराज्य से बड़ी हों और जिनको खोकर स्वराज्य हो ही नहीं सकेगा या वह निरर्थक वस्तु होगा, असली स्वराज्य नहीं होगा। ऐसी एक वस्तु आज बड़े ज्वलन्त रूप में उपस्थित है। आज सारी दुनिया की ही रक्षा का प्रश्न इतनी भयंकरता से उपस्थित है कि उसके सामने भारत की स्वाधीनता का प्रश्न विस्मृत हो

जाता है। आक्रान्ता राष्ट्र जो धुरीराष्ट्र कहलाते हैं आज जो एक के बाद एक अन्य राष्ट्रों को पादाक्रान्त करते आ रहे हैं उनसे दुनिया को बचाने का प्रश्न इतना भारी है कि उसके चलते रहते भारत की स्वाधीनता चाहने का कुछ मतलब ही नहीं रहता। पिछले वाक्स्वातन्त्र्य के वैयक्तिक सत्याग्रह को प्रारम्भ करते हुए बम्बई में गाँधी जी ने कहा था कि इस समय अंग्रेजों से हम क्या स्वराज्य माँगें, स्वराज्य के लिये उनके विरुद्ध इस समय हम सत्याग्रह नहीं कर सकते जब कि अंग्रेज-जाति इतनी भारी मुसीबत में पड़ी है, अपने अस्तित्व के लिये ही कशमकश कर रही है। गाँधी जी की वह बात मेरी समझ में इस समय तो और भी अधिक सही है, और केवल अंग्रेजों का अस्तित्व ही नहीं, किन्तु सभी स्वाधीन रहना चाहने वाली जातियों का अस्तित्व इस समय महासंकट में है। फिर भी गाँधी जी ने, कांग्रेस ने आज जो अंग्रेजों से स्वाधीनता पा लेने की लड़ाई छेड़ी है, उसके पीछे जो तर्क है उसे हम सच्चे अर्थों में लें तो भी हम उसी परिणाम पर पहुँचेंगे जिसका मैं वर्णन कर रहा हूँ। क्योंकि, एक वाक्य में, काँग्रेस इस समय इसीलिये जान की बाजी लगाकर अंग्रेजी सरकार से लड़ रही है क्योंकि वह जापान, जर्मनी आदि आक्रान्ता राष्ट्रों को परास्त करने में, अहिंसात्मक ही नहीं, किन्तु हिंसात्मक तौर पर भी अपना हिस्सा स्वाधीनता से लेने को तड़फ रही है, क्योंकि राष्ट्रपति मौलाना आजाद तथा जवाहरलाल जी तो फौज और

तलवार लेकर भी जापान से लड़ने को उद्यत हैं। इसलिये इस बात में मतभेद हो सकता है और है कि इस समय स्वतन्त्रता का आन्दोलन मित्रराष्ट्रों को मदद पहुँचाने के लिये जरूरी है या नहीं किन्तु इस बात में मतभेद नहीं है कि इस समय धुरीराष्ट्रों को पराजित करने में लगना, मित्रराष्ट्रों को मदद पहुँचाना अत्यन्त जरूरी है। मुझे दुःख है कि बहुत से लोग, कांग्रेस के भी लोग, हमारे मान्य नेताओं की इन बातों को गम्भीरता से नहीं ले रहे हैं, बहुत से इसमें विश्वास नहीं करते हैं, कई समझते हैं कि यह केवल राजनीति की चाल है असल में हमें जापान जर्मनी को हराने से कुछ मतलब नहीं, हमें तो अपनी स्वाधीनता चाहिये। पर मैं कहना चाहता हूँ कि परमेश्वर के वास्ते हमें अपने पूज्य नेताओं के कथन को जैसा वे कहते हैं वैसा ही समझना चाहिये। कांग्रेस स्वराज्य के सवाल को अभी टाल सकती थी और लड़ाई की समाप्ति तक के लिये टाल ही चुकी थी। फिर भी जो कांग्रेस को या गाँधी जी को स्वाधीनता के लिये अब एकदम सत्याग्रह करना पड़ा है वह केवल इसीलिये चूँकि वे इस लड़ाई में अंग्रेजों की जीत कराना चाहते हैं, और उनकी दृष्टि में हमारे स्वाधीन हुए बिना वह बहुत मुश्किल है। इसलिये वे भी जो कुछ कर रहे हैं वह अंग्रेजों के पक्ष की विजय के लिये ही कर रहे हैं। तो अब भी मुख्य बात मित्र पक्ष की जीत कराना

है, न कि अपनी स्वाधीनता, अपनी स्वाधीनता की अभी घोषणा हो जाना तो उसके साधन के तौर पर ही चाहिये। एवं मित्र पक्ष की विजय कराने के लक्ष्य पर सब सहमत हैं, मतभेद है तो साधन में है। इसलिये गाँधी जी जैसे सत्य-परायण महा पुरुष के इस कथन में हमें ज़रा भी अविश्वास नहीं करना चाहिये कि वे सचमुच अंग्रेज़ों के पक्ष की जीत के लिये ही सच्चे दिल से यत्नशील हैं। और यही ठीक है। सब तरह से ठीक है। यही करना भी चाहिये। वास्तव में दुनिया पर इस समय एक बड़ा भारी संकट आया हुआ है। उसकी भीषणता तथा उसके बचने की तात्कालिक महान् आवश्यकता को देख कर ही मेरा जैसा आदमी भी चिल्लाने लगा है, इस राजनैतिक से दीखने वाले विषय में इतने यत्न, निश्चय और दृढ़ता के साथ अपने भाव आवश्यक रूप से प्रकट करने को बाधित हुआ है। इसके लिये मुझे वर्तमान युद्ध के असली स्वरूप का वर्णन करने की आवश्यकता होगी। सो इस विषय में मैं नीचे कुछ पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। इससे पाठकों को यह भी पता लग जायगा कि मैं केवल निरी राजनैतिक चर्चा नहीं कर रहा, मैं तो अपने स्वाभाविक क्षेत्र के अनुसार आध्यात्मिक दृष्टि से ही सब कुछ कह रहा हूँ, परन्तु राजनीति भी बलात् इस समय इसमें अपने स्थान पर आजाती है क्योंकि सच्ची आध्यात्मिकता में सब कुछ ही--राजनीति भी—ठीक स्थान पर अपनी मर्यादा से आते हैं।

२—वर्तमान युद्ध का स्वरूप

आज जो जगत्-व्यापी युद्ध चल रहा है उसे किन्हीं एक जातियों का दूसरी जातियों के विरुद्ध युद्ध समझना गलती होगी। जातियाँ और मनुष्य तो निमित्त-मात्र हैं। इनके पीछे जो शक्तियाँ काम कर रही हैं उन्हें देखना चाहिए। जर्मनी के वर्तमान नाज़ीवाद के पीछे एक ऐसी अन्धकारमयी और असत्यरूप आसुरी-शक्ति काम कर रही है जो कि जगत् भर पर अपना कब्ज़ा करने के लिए बड़े वेग से बढ़ी आ रही है, इटली और जापान उसी से संचालित जर्मनी का साथ दे रहे हैं। यदि कहीं इनकी जीत हुई तो दुनियाँ का बहुत काल के लिए दिव्य जीवन के लिए फिर उभर सकना असम्भवप्राय हो जायगा। हम भारत-वासी अभी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं कि जर्मनी या जापान का राज्य हो जाने का कितना भयंकर अर्थ है। घोर आतङ्क और अत्याचार का राज्य हो जायगा; उन्नति के लिए सब स्वाधीनता, दिव्य प्रकाश तथा सत्य की साधना की सब आशा समाप्त हो जायगी, आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जायगा। इसलिए इस घड़ी आवश्यकता है कि हम दुनियाँ के शत्रु और दुनियाँ के मित्रों व बचाने वालों को साफ़ पहिचान जाँय और अपनी सब सम्भवनीय शक्ति से जो दुनियाँ की रक्षा करने वाला पक्ष है उसकी

मदद करें। यह ठीक है कि हम भारतवासी अँग्रेजों के सताये हुए हैं, इसलिए हमारे मनों में उनके प्रति विशेष नफ़रत होना स्वाभाविक है। पर इस समय उस नफ़रत को भुला देना चाहिए। मैं जानता हूँ कि यह कितना कठिन है, विशेषतः जबकि अँग्रेज़ी सरकार ने पूज्य गान्धीजी तथा देश के सर्वप्रिय नेताओं को जेल में डाल रखा है और घोर दमन कर रही है। तो भी मैं कहूँगा, और इसीलिये कहने की और भी आवश्यकता है, कि इसके होते हुए भी हमें अपने असली शत्रु को, मानवता के शत्रु को भूल नहीं जाना चाहिये। उस शत्रु के मुकाबिले में यह सब भी बहुत गौण वस्तु है। पर यदि हम उल्टा सोचेंगे, अँग्रेज़ों को ही कहीं इस समय अपना शत्रु समझेंगे तो हम भारत पर—और अतएव समस्त दुनियाँ के भविष्य पर—बड़ी भारी विपत्ति को निमन्त्रित कर रहे होंगे। यह नहीं कि अँग्रेज़ देवता हो गये हैं, या रूस ही कोई सच्चा मार्ग दिखाने वाला है, परन्तु चूँकि अपनी सब कमज़ोरियों और खराबियों के होते हुए भी इस समय अँग्रेज़, रूस और अमेरिका, चीन सहित उस आसुरी शक्ति का विरोध करने और उसे परास्त करने के लिये जो कि अपनी अन्धकार और असत्य-मूलक नृशंस अवस्थाओं के साथ सब जगत् पर कब्ज़ा करने की भयङ्कर चेष्टा कर रही है निमित्त बने हुए हैं, (चाहे अनजान में ही, पर दैव कार्य में निमित्त बने हुए

है) इसलिये हमें अपनी सब शक्ति के साथ इस पक्ष की विजय कराने के लिये प्रस्तुत हो जाना चाहिए।

३—हमें क्या करना चाहिए

तो कम से कम हमें

—अपने मन से धुरीराष्ट्रों के साथ पक्षपात को, इनकी विजयाकांक्षा के छिपे हुए सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भाव को भी बिल्कुल निकाल देना चाहिए। अँग्रेजों के प्रति द्वेष भाव के कारण या केवल उथल-पुथल व नई परिवर्तित अवस्था की इच्छा के कारण जो बहुत से भारतवासियों के अन्दर धुरी-राष्ट्रों की विजय से खुशी होती है वह बहुत ही हानिकारक है, वह जापान या जर्मनी को भारत पर आक्रमण करने के लिए जबर्दस्ती अपनी ओर खींचती है। हम जानते हैं कि हमारे देश में अँग्रेजों के प्रति कटुता इतनी गहरी है कि बड़े-बड़े सरकारी नौकर भी दिल में अँग्रेजों की हार चाहते हैं, पर यह अवस्था इस समय जगत्-कल्याण के और अतएव भारत-कल्याण के लिए बहुत ही विपरीत जा रही है। इसलिये बड़ी भारी मदद करना, यह है कि हम अपने मनों में से धुरी राष्ट्रों के प्रति सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पक्षपात को भी बिल्कुल निकाल देवें बल्कि—

२. सच्चे दिल से हिटलर की हार तथा मित्रपक्ष की विजय मनावें।

३. मित्रपक्ष को विजयी करने के लिये अन्य जो कुछ भौतिक सहायता पहुँचाना भी हमारे हाथ में हो वह सब भी करें।

पर यदि हम इतना भी न करेंगे तो बड़ा डर है कहीं आसुरी पक्ष विजयी न हो जाय। यही समय है जब कि थोड़ा सा भी अपना बोझ ठीक तरह से ठीक तरफ डाल देने से उठा जाता हुआ तराजू का पलड़ा फिर ठीक हो सकता है, उचित ओर बोझ पड़ जाने से युद्ध सन्तुलित हो ठीक प्रकार समाप्त होना शुरू हो सकता है। आशा है हम अपना सब बोझ दिव्यपक्ष की ओर दे देंगे और इस प्रकार दैवी विजय में साझीदार होने का गौरव प्राप्त कर सकेंगे। तब संसार पर छाया हुआ महासंकट टल जायगा; दुनिया विश्रान्ति, शान्ति और चैन का सांस ले सकेगी, आज़ादी पावेगी। भारत आज़ाद होगा, दुनिया को सच्चे अर्थों में आज़ाद करता हुआ भारत आज़ाद होगा, आज़ादी के साथ अपनी दिव्यता, सत्यप्रकाश और आध्यात्मिकता का सन्देश सब कहीं फैला सकने के लिये आज़ाद होगा। क्योंकि तब दिव्य प्रकाश फैलने को रोकने वाली बड़ी बड़ी रुकावटें और बाधायें दुनिया पर से हट चुकी होंगी। इसलिये जितना ही भारी यह संकट है इसके टल जाने से उतना ही भारी कल्याण भी होने वाला है। तो इस समय आवश्यकता है प्रमाद-रहित होकर, सब शक्ति लगाकर इस

संकट पर विजय पा लेने की। नहीं तो जरा से प्रमाद से, जरा सी ग़लती के कारण यह हो सकता है कि भारत की आदिकाल से चली आती सब दिव्यता, सात्त्विकता तथा सब आध्यात्मिकता के मिट्टी में मिल जाने का अवसर आजाय। इसीलिये भारतीय भाइयों से (और भारत का भला चाहने वालों से) मेरी यह पुकार है।



मनोविज्ञान और योग

(ले०—डा० इन्द्रसेन जी)

इस विषय पर लिखने में मुझे दो भावों ने प्रेरित किया है। प्रथम तो यह कि चूंकि आधुनिक मनोविज्ञान (जिसका उद्देश्य मन के, आत्मा और व्यक्तित्व के, चेतना और अचेतना के अध्ययन तथा अनुसंधान की कोशिश करना है) मनुष्य की अपने आपको जानने की बद्धमूल जिज्ञासा का एक आधुनिक रूप है; इसलिये हम इसे ऐसा समझ सकते हैं कि यह एक प्रकार से यौगिक अभीप्सा का ही पुनः आविर्भाव है जो अभीप्सा चाहे आज भौतिक विज्ञान पर आश्रित वर्तमान सभ्यता की परिस्थितियों से ढकी हुई है। दूसरा यह कि पाश्चात्य विचार-पद्धति में पला हुआ योग का एक आधुनिक विद्यार्थी मनोविज्ञान को योग की एक सहायक सामग्री और भूमिका के रूप में पा सकता है; विशेषतया इसलिए चूंकि मनोविज्ञान में कुछ निश्चित प्रवृत्तियाँ हैं जो मनुष्य की वैयक्तिक कठिनाइयों को समझने में अति प्रत्यक्षतया सहायक हैं। उनका परिचय योग के

जिज्ञासु को अपने व्यक्तित्व के मूलतः पुनर्निर्माण के कार्य में मदद दे सकता है। अतः योग के विद्यार्थी का एक सामान्य मनोवैज्ञानिक भूमिका का देना यहाँ इस लेख में हमारे प्रयत्न का विषय होगा।

सबसे पहले हम यह पूछना चाहेंगे कि योग असल में है क्या वस्तु? हम उत्तर दे सकते हैं कि यह विचारणा की एक क्रियात्मक पद्धति है जिसमें कि आत्मा और उस की शक्तियों के साक्षात्कार की उन विविध विधियों और कर्मों का वर्णन किया जाता है जिनसे कि आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त होती है। योग है वह 'आत्मा का विज्ञान' जो किसी जाति, मत या जीवन-व्यवसाय का भेद रखे बिना सब व्यक्तियों के लिये समान रूप से सार्थक और हितकर है।

योग की आवश्यकता

किन्तु आधुनिक मनुष्य विरोध-प्रदर्शन-पूर्वक पूछेगा, आत्म-साक्षात्कार से मैं सम्बन्ध ही क्यों रखूं? आत्मा की वास्तविक सत्ता ही कहाँ है? हमें इन प्रश्नों को अवकाश देना चाहिए। अतएव हम कम-से-कम अभी 'आत्मा' और 'आत्म-साक्षात्कार' इन शब्दों का प्रयोग नहीं करेंगे। किन्तु प्रश्नकर्ता निश्चय ही यह मानेगा कि वह अपने सुख, मानसिक समता और समतुलित निर्णय-शक्ति में तथा अपने समर्थ जीवन और मन की सामान्य शान्ति में अवश्य गहरी

दिलचस्पी रखता है। सचमुच आजकल का विक्षिप्त जगत् इन वस्तुओं की आवश्यकता बड़ी तीव्रता से अनुभव कर रहा है। स्नायुविकार (Nervous and mental disorders) इस युग की व्याधि है और निःसन्देह यह स्नायुरोगी ही हैं जो चिन्ता और बेचैनी से अतीव व्यथित होते हैं और अत एव बड़ी विह्वलता से शान्ति के लिए पुकारते हैं। स्विटज़रलैंड में मेरी गृहरक्षिका के इस प्रासंगिक वचन ने कि, 'क्या तुम्हें भी भारतवर्ष में अपने दैनिक कृत्यों के अनुष्ठान में इतनी दौड़ धूप करनी पड़ती है जितनी कि हम यहाँ करते हैं' मेरे मन पर अमिट छाप छोड़ी है। हमारा जीवन, जैसे कि यह आज संघटित है, भारी आवश्यकताओं से लदा हुआ है और हम प्रायः प्रतिक्षण अपने को दौड़धूप में ग्रस्त पाते हैं। परन्तु वास्तव में हम लगे भी किन बड़े कामों में हैं? वर्ड्सवर्थ क्या अपनी इस शिकायत में सच्चा नहीं है कि, 'साधारण खानपान, उपार्जन और व्यय में हम अपनी शक्तियों का नाश कर देते हैं' (Getting and spending we lay waste our powers)। ऐसे संसार में शान्ति की बड़ी भारी आवश्यकता स्वाभाविक ही है। जो व्यक्ति केवल खाने-पीने और साधारण 'सुखी जीवन' से सन्तुष्ट नहीं होते उनको तो सदा ही इसकी अनिवार्य आवश्यकता अनुभव होती है। वे अधिक विस्तृत, सुखी और वस्तुतः पूर्ण जीवन की

याचना करते हैं। इसी आवश्यकता से ही योग का उदय हुआ और इसे ही वह पूरा करना चाहता है। अतः योग का जिज्ञासु वह है जिसने अपने वर्तमान जीवन की अपूर्णताओं का तीव्र अनुभव किया है और इसके अर्थ को खोजने तथा इसकी बृहत्तर शक्यताओं को सिद्ध करने के लिये एकनिष्ठ है।

इसमें सन्देह नहीं कि आजकल बहुत से लोग, विशेषतः शिक्षित वर्गों के, अपने जीवन की अपूर्णता महसूस करते हैं और कुछ थोड़े से चिन्तन से वे अपनी इस कमी को पहचान जायेंगे। परन्तु कोई भी व्यक्ति इस अपूर्णता की पूर्ति के लिये क्या यत्न करे? आधुनिक शिक्षा से उसने नयी आदतें और विचार-प्रणालियाँ सीखी हैं। परिणामतः कुछ प्राचीन आदरणीय सांस्कृतिक वस्तुएँ उसके लिये केवल इस कारण निरर्थक हो जाती हैं क्योंकि वह उन्हें समझ नहीं पाता। अतएव वर्तमान भारतीय विद्वान् का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह प्राचीन विद्या को आधुनिक बुद्धि के लिये सुलभ बनाये। स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और श्रीअरविन्द सदृश महापुरुषों की शृङ्खला ने वर्तमान काल में हमारी इस प्राचीन विद्या की व्याख्या की है, और इसका निरूपण किया है। सुप्रसिद्ध जीवन-चरित्र-लेखक रोमाँ रोलां (Romain Rolland) के शब्दों में "श्रीअरविन्द तो एशिया की प्रतिभा और यूरोप की

प्रतिभा के ऐसे पूर्णतम समन्वय हैं जो कि आज तक प्राप्त किया गया है।" इस प्रकार पश्चिम के लिए भारतीय विद्या का सुनिरूपण करने तथा प्राचीन ज्ञान को अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों तक पहुंचाने के लिए वही उपयुक्ततम व्यक्ति हैं। युवावस्था में ही उन्हें यह प्रतीत हो गया कि योग उनके जीवन की सर्वोच्च महत्त्वाकांक्षा है और वैयक्तिक अनुभव के आधार पर उन्होंने एक योग-साधन-पद्धति का प्रतिपादन किया है। हमारे देश का विशाल इतिहास जिन अनेक विभिन्न यौगिक प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करता है उनका यह अत्यन्त सुन्दर, श्रमसिद्ध और विशाल समन्वय है। इसके परिपक्व मनोविज्ञान ने मुझे बहुत आकृष्ट किया है और मैं सहजभाव से प्रत्येक योग-जिज्ञासु को श्रीअरविन्द का योगविषयक साहित्य, जिसकी सूची मनोविज्ञान-सम्बन्धी अन्य उपयोगी ग्रन्थों के साथ अन्त में आबद्ध है, पढ़ने के लिए निमन्त्रित कर सकता हूँ।

निग्रह

हमने ऊपर कहा था कि योग का उदय जीवन की पूर्णता-विषयक अन्तःप्रेरणा से हुआ है। परन्तु यौगिक प्रक्रिया का यथार्थ स्वरूप क्या है ? व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो अन्ध-प्रेरणा (Instinct) और तर्कणा का संघर्ष ही यौगिक प्रयत्न के क्षेत्र का निर्माण करता है। मनुष्य

अपनी प्रकृति से ही अनेकविध प्रवृत्तियों से युक्त है, उदाहरणार्थ, भय, लड़ने झगड़ने की वृत्ति, संचयशीलता, लैङ्गिक प्रवृत्ति इत्यादि। ये व्यक्ति के विकास में भिन्न भिन्न क्रमों पर प्रकट होती हैं। बच्चा सर्वप्रथम स्तन्य-पान, मुट्ठी में किसी चीज़ को पकड़ लेना, निगलना और कुछ अन्य प्रतिक्रियाएँ प्रकट करता है। कुछ समय बाद वह बैठना और चीज़ों के साथ खेलना शुरू करता है। काल की प्रगति के साथ साथ वह चलना प्रारम्भ करता है और उसकी क्रीड़ा का क्षेत्र विस्तृत हो चलता है। लगभग १२ वर्ष की उम्र में उसे लिङ्ग-ज्ञान होता है और वह लड़कों तथा लड़कियों में भेद करना शुरू करता है। तथापि इतर लिङ्ग के प्रति भावात्मक आकर्षण बहुत देर में प्रकट होता है। अब, प्रत्येक अन्धप्रेरणा प्रकट होते ही उद्दण्डतया क्रिया करने में प्रवृत्त होती है। यह तत्क्षण ही सम्पूर्ण जैव-सत्ता को अपने नियंत्रण में करना चाहती है। पर यह एक अन्धप्रेरणा होती है। पक्ष-विपक्ष के विचार इसकी क्रिया के घटित होने में दखल नहीं दे सकते। बच्चे की अन्धप्रवृत्ति (Impulse) एक सुपरिचित अनुभव है।

किन्तु शनैः शनैः दण्ड के भय और प्रशंसा तथा पारितोषिक के प्रलोभन से बच्चा इन अन्धप्रेरणाओं को संयत करना सीखता है और इस तरह वह आचार के सामाजिक आदर्श-मान का उत्तरोत्तर अधिक अनुसरण करता जाता

है। वह आचार व्यवहार के उन आदर्शों को बुद्धि में स्थान देने लगता है जिन्हें मनोविज्ञान वेत्ता भावनाएँ (Sentiments) कहते हैं। प्रौढ़ होने तक वह अपनी अन्ध-प्रेरणाओं और आवेगों को काफ़ी हद तक, कम-से-कम सभ्य समाज में रहने के लिये पर्याप्त मात्रा में, वश तथा समता में ले आता है। अन्धप्रेरणा और आवेग अब भी उसके जीवन की प्रेरक शक्तियों का काम करते हैं, परन्तु वे अधिकांश में 'शिष्ट-सामाजिक-व्यवहार' की भावना के अधीन रहते हैं। पर यद्यपि बच्चे के व्यवहार की अपेक्षा उसके जीवन की समस्वरता विकसित होता है ता भी वस्तुतः वह एक गठी-जुड़ी चीज़ होती है। बहुधा अन्ध-प्रेरणाएं केवल दबा दी गई होती हैं जिससे उनकी वासना गुप्त रूप से अचेतन में काम करती रहती और स्वप्नों तथा जीवन के अन्य अनेक प्रासंगिक कार्यों में आविर्भूत होती रहती है। इन दबी हुई अन्धप्रेरणाओं की यथार्थ क्रिया पर ही पिछले कुछ वर्षों में एक सम्पूर्ण मनोविज्ञान खड़ा हो गया है। अन्धप्रेरणाओं का अधीर और दिखावटी नैतिक (Moralistic) नियन्त्रण कैसे निग्रह की ओर ले जाता है? ये निग्रह कैसे अलक्षित ही काम करते रहते हैं?—इनका स्वप्नों में अपने प्रच्छन्न रूपों, और सामान्य व्यवहार में अप्रत्यक्ष हावभावों में प्रकट होना तथा गम्भीर मानसिक संघर्षों और निग्रहों की अवस्था में मानसिक गड़बड़ों का

परिणामतः उत्पन्न होना—इन सबकी छानबीन फ्रायड (Freud) ने अपने मनोविश्लेषण द्वारा बड़ी सावधानी से की है। विविध कुटिल रूपों में आत्मवंचन भी इस क्षेत्र में दृष्टिगोचर हुआ है जिसका अत्यन्त श्रमपूर्ण अध्ययन किया गया है। मेरे ख़्याल में योग-विद्या के अनुष्ठान के लिये यह ज्ञान बड़ा सहायक है।

योग का उद्देश्य

योग की वास्तविक समस्या है जीवन की पूर्ण समस्वरता या समतुलन। विद्रोही आवेगों का वशीकरण-मात्र पर्याप्त नहीं है। स्वतः आन्तरिक वासना का ही नितान्त रूपान्तर योग का ध्येय है। कुछ भिन्न भिन्न भावनाओं और बहुत से अर्ध-दमित आवेगों के संघर्षमय पथप्रदर्शन के अधीन काम करने वाले साधारण सामाजिक मनुष्य के विषम, विभक्त जीवन के बजाय, योग उस अखण्ड और सर्वांगीण जीवन को अपना लक्ष्य बनाता है जो एक प्रधान भावना—सत्य के प्रति प्रेम की अथवा ईश्वर-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार या पूर्ण जीवन के प्रति प्रेम की एक प्रधान भावना—से परिचालित हो, और उसमें अपने अन्दर को किसी असन्तुष्ट वासना की बुड़बुड़ाहट तक न हो।

इस प्रकार अपनी दृढ़ता प्रकट करने वाली और स्वार्थ-तत्पर अन्धप्रेरणाओं को एक प्रधान सर्वनियामिका भावना की सर्वांगीण शक्ति में रूपान्तरित करना योग की

वास्तविक समस्या और क्रिया है। परन्तु यह रूपान्तर साधित कैसे हो ? क्या योग का यह महान् ध्येय प्राप्य है भी सही ? मनुष्य पशुवत् जीवन शुरू करता है और क्या उसके लिये अन्त तक वैसा ही रहना आवश्यक नहीं है ? पशु अपने जीवन से सन्तुष्ट है। अन्धप्रेरणा उसके जीवन का सर्वोपरि नियम है और उससे उसके सब काम पूरी तरह से चल जाते हैं। परन्तु मनुष्य का ही यह भाग्य या विशेषाधिकार है कि वह 'आगे और पीछे देखे' और पश्चात्तापों, आन्तरिक संघर्षों और निग्रहों का कष्ट झेले। यदि वह उनसे ऊँचा उठ सके तो वह निश्चित ही अति-मानव (मनुष्यपन को अतिक्रान्त कर गया हुवा) हो जाता है। अब प्रश्न का यह रूप हो जाता है कि क्या अतिमानव जीवन मनुष्य के लिये सम्भव है ? क्या मनुष्य अतिमानव बन सकता है ? कम से कम योग का उत्तर तो है विश्वासपूर्ण 'हाँ', और यह साहसी वीर आत्माओं को एक इस प्रकार की चुनौती देने के लिये काफ़ी है कि वे असाधारण लाभ के लिये अपने जीवन के साथ ऐसा परीक्षण करें।

अभीप्सा और परित्याग

परन्तु इस महान् उद्देश्य तक पहुँचाने वाला अनोखा उपाय कौनसा है ? 'अभीप्सा', यह है योग का चामत्कारिक उत्तर। 'अभीप्सा करो, तीव्रतया और सर्वात्मना अभीप्सा करो।

प्राप्तव्य उद्देश्य के लिये अपनी सारी सत्ता से अभीप्सा करो, अनन्यचित्तता और पूर्ण एकाग्रता के साथ अभीप्सा करो।' पर इसके साथ वर्तमान आसक्तियों के परित्याग की मनोवृत्ति भी अवश्य रहनी चाहिये। जिज्ञासु को चाहिये कि वह ऐसे वर्तमान बन्धनों से अपने आपको छुड़ा ले जो कि उद्देश्य से टकराते हैं, उसके प्रतिस्पर्द्धी हैं। उसे अपनी 'मानसिक रचनाओं' को नष्ट करने के लिये अपने आपको तैयार करना पड़ता है ताकि नये आत्मिक जीवन का भव्य-भवन खड़ा किया जा सके।

एवं परित्याग तथा अभीप्सा की परस्पर-पूरक मनो-वृत्तियाँ, एक अभावात्मक और दूसरी भावात्मक, रूपान्तर का सारा जादू करती हैं।

परन्तु यहाँ सही तौर पर यह पूछा जा सकता है कि 'अभीप्सा मात्र से सिद्धि कैसे प्राप्त होती है?' 'इच्छा सिद्धि तक कैसे पहुँचा देती है?' पहली बात तो यह कि 'इच्छा' और 'अभीप्सा' एक ही चीज नहीं हैं। प्रत्युत अभीप्सा का अर्थ है गंभीर 'अभिकांक्षा करना व संकल्प करना।' और 'गम्भीरभाव से अभिकांक्षा करना' इच्छा करने से इस बात में भिन्न है कि यह अभिकांक्षित पदार्थ की प्राप्ति की सम्भावना के विश्वास से युक्त होता है। इच्छा में ऐसा नहीं होता। परन्तु 'तीव्र गम्भीर आकांक्षा करना' या अभीप्सा स्वतः ही अभीष्ट-प्राप्ति कैसे कर लेते

हैं ? अब मनोविज्ञान के अनुसार "सामान्य नियम यह है कि जब 'किसी काम का करना, किसी करणीय काम का विचार' चेतना को इस प्रकार व्याप्त कर लेता है कि विरोधी सुझावों या प्रेरणाओं (Suggestions) को निकाल कर सर्वथा बाहर कर दे या दबा दे तभी क्रिया घटित होती है।" पुनश्च "अगर यह पता हो कि हम कोई क्रिया कर सकते हैं तो उसे करने के लिये जो कुछ आवश्यक है वह इतना ही कि इसके विचार की या इससे प्राप्य उद्देश्य की अपने अन्दर अनन्य रूप में प्रबलता या प्रधानता प्राप्त करने का यत्न करें"—स्टौट (Stout)। इस प्रकार किसी कार्य या परिणाम की सिद्धि के लिये 'आत्म-नियमन-पूर्वक उसकी ओर ध्यान लगाना' बस यही सब कुछ है जो अपेक्षित है। सच तो यह है कि 'विचारों की अपने आप को कार्य में परिणत कर लेने की ओर प्रवृत्ति अब मनोविज्ञान में एक प्रसिद्ध चीज़ है'—स्टौट। परन्तु कभी कभी हमारे इरादे और इच्छा के विरुद्ध भी कार्य हो जाते हैं। एक युवक जो अभी हाल में अपना भाषण देने वाला है, पहले से ही यह समझता है कि वह कांपेगा और पीला पड़ जायगा और कदाचित् असंगत बोलने लगेगा। वह चाहता है कि मैं इससे सर्वथा भिन्न व्यवहार करूँ, तो भी ऐन मौक़े पर उसका यह ख्याल कि वह ठीक प्रकार भाषण दे सकने में इतना डरता है उसके

मन को ऐसे घेर लेता है 'कि वह जैसी आशंका करता था वैसा ही अपरिहार्य रूप से कर बैठता है।' इस प्रकार, यह उसके ठीक प्रकार भाषण दे सकने में इतना डरने का ही ख़्याल है जो उसके मन को आ घेरता है और उसके कार्य का निर्धारण करता है। निरूढ़ विचारों (Fixed ideas) की दशा में भी, जहाँ कि व्यक्ति अनिच्छापूर्वक किसी 'आ घेरने वाले पाप', या प्रबल प्रलोभन के अधीन हो जाता है, ठीक यही बात होती है। "विचार की मोहक दिलचस्पी के कारण कार्य करने का और उस के फल का ख्याल उसके मन में तीव्र स्पष्टता के साथ बलात् प्रविष्ट हो जाता है और वह उसे कर डालने में अपने को बाधित अनुभव करता है"—स्टौट। यह स्पष्ट है कि विचार और इच्छा की अवाञ्छनीय आदतों पर विजय पाने का केवलमात्र प्रभावशाली उपाय उनकी तरफ़ से अपना ध्यान और अनुमति हटा लेना ही है। किसी वस्तु में अनुराग कायम रखते हुए उसकी क्रिया का दमन कर डालना गीतोक्त मिथ्याचार ही है, और मनुष्य के आन्तरिक संघर्ष की समस्या का यह कोई हल नहीं है। तो क्या संघर्ष और मानसिक गड़बड़ से बचने के लिये दमन सर्वथा बुरा और रमण (Indulgence) वास्तविक उपाय है, जैसा कि बहुतों की समझ में मनोविश्लेषकों का भी अभिप्राय है? परन्तु यह बात नहीं है। सभ्यता और शिक्षा

में निग्रह आवश्यक है और फ्रायड अपनी कृतियों में इसे स्पष्ट स्वीकार करता है।

इस प्रकार दमन या निग्रह आवश्यक है। परन्तु यह केवल सामयिक और अधूरा हल है। पूर्ण समाधान तो दबी हुई प्रवृत्ति के उदात्तीकरण (Sublimation) या रूपान्तर से ही होगा और इसकी प्राप्ति के लिये आवश्यक है वासना से मुक्ति के लिये तीव्र अभीप्सा और प्राप्य उद्देश्य पर ध्यान का केन्द्रीकरण।

ऊपर हमने यह दिखाने का यत्न किया है कि किस प्रकार स्वीकृत मनोवैज्ञानिक तथ्य आधुनिक मन के सम्मुख योग की फलोत्पादकता और बुद्धिग्राह्यता की व्याख्या और प्रतिपादन करते हैं। परन्तु सत्य यह है कि ध्यानसम्बन्धी मनोविज्ञान (Psychology of attention) अभी एक अपूर्ण चीज है और अब तक ध्यान के बारे में जो कुछ ज्ञात है उसके आधार पर कम-से-कम ऐसी आस्था रखना सम्भव है कि योग का यह दावा सर्वथा अशक्य नहीं है कि उसके अभ्यास से मन की उच्चतर शक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

योग मुख्यतया मानसिक तथा आंतरिक अभ्यास है

स्वामी विवेकानन्द ने मनोवैज्ञानिक योग की बात कही थी, अर्थात् प्रधानतया मानसिक नियमन से चलने वाले योग की। श्रीअरविन्द भी योग को विशेषतया आन्तरिक

अभ्यास ही मानते हैं। पर पतञ्जलि साधनपाद में योग के अभ्यास की उस पद्धति का भी निरूपण करते हैं जिसमें यम-नियम-पूर्वक आसन, प्राणायाम के सोपानों द्वारा वर्णित शारीरिक तप को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। हमारा विवरण बेशक शुद्धतया मनोवैज्ञानिक है। पर इसका यह मतलब नहीं कि हम परिमित भोजन या शारीरिक संयम के अन्य अंगों का मूल्य कम करना चाहते हैं, तो भी इतना अवश्य मानते हैं कि योग में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु मानसिक वृत्तियों का निरोध ही है (जैसा कि पातञ्जल योग के प्रथमपाद में वर्णित है), और शारीरिक नियन्त्रण केवल उपकरण के तौर पर, साधन के तौर पर ही उपादेय है। यह शोचनीय बात है कि प्रायः बाह्य नियमों को ही योगाभ्यास का बड़ा भाग बना दिया जाता है। ऐसी अवस्था में बहुधा तपस्या, सुख का परित्याग और इन्कार या दमन अपने आप में ही उद्देश्य बन जाते हैं। परन्तु तपस्या नियन्त्रण के तौर पर उचित और उपयोगी होती हुई भी यौगिक जीवन का अन्तिम स्वरूप नहीं बन सकती क्योंकि इसमें वासनाओं के रूपान्तर के बजाय उनका दमन अन्तर्निहित होता है। तपस्वी और भोगवादी में भेद केवल इतना ही है कि पहला तो अपनी सुख की इच्छा को दबाये हुए रखता है और दूसरा अपने आपको उसके प्रति खुल्लमखुल्ला सौंप देता

है। योग में जैसे कि ऊपर उसका विचार किया गया है, आन्तरिक मन का मूलगत परिवर्तन, जीवन-विषयक दृष्टि को ही पलटना और जीवन के सब व्यवहारों में नये मूल्यों का निर्धारण समाविष्ट है। यह व्यक्तित्व का, और फलतः इसके संसार का पूर्ण रूपान्तर है।

बचपन से अभ्यास की आवश्यकता

जो लोग प्रौढ़ावस्था में यौगिक जीवन के सौन्दर्य और सामर्थ्य से अभिज्ञ होकर अपनी प्रवृत्तियों के रूपान्तर के लिये सचाई के साथ उद्योग शुरू करते हैं वे सोचते हैं कि उन्हें बहुत पहले ही कुछ आधारभूत मनोवृत्तियाँ बना लेनी चाहिये थीं। उन्हें अनुभव होता है कि तब वे कुछ उन कठोर संघर्षों से बच जाते जिनमें से अब उन्हें अवश्य गुजरना होगा। बहुतों को रसना के साथ कड़ी लड़ाई लड़नी पड़ती है और प्रतिदिन प्रत्येक भोजन के समय अध्यशन (बहुत खा जाने) की तुच्छ दुर्बलताओं की पुनरावृत्ति से उत्पन्न विक्षोभ के कारण एक जिज्ञासु के मुँह से वर्ड्ज़वर्थ की भाँति यह दुःख-भरी चीख अवश्य निकल पड़ेगी, 'काश! मेरी दुर्बलता का कभी तो अन्त हो' ('Oh let my weakness have an end')। और तब उसने अवश्य ही यह चाहा होगा कि अगर वह बचपन में ही मूल्यों की श्रेष्ठतर भावना और खाने की उचित आदतों को डाल लेता तो वह इस सारे कष्ट से बच जाता।

योग में अनेक यूरोपियनों की और नहीं तो मोहकता की दिलचस्पी होती है। वे स्वीकार करते हैं कि इसमें भारतवर्ष संसार के इतिहास में अद्वितीय रहा है। और मुझे याद है कि एक यूरोपियन उपाध्याय ने अपनी भारत यात्रा के समय एक वार्तालाप के मध्य में योग के आधार पर निर्मित शिक्षापद्धति का विचार प्रस्तुत किया था। निःसन्देह यह एक सुन्दर विचार है परन्तु इससे शैक्षणिक जीवन की एक पूर्ण पद्धति का निर्माण उस व्यक्ति का काम है जो एक साथ योगी भी हो और शिक्षाकर्मी भी। तथापि यह स्पष्ट है कि बचपन में ठीक मनोवृत्तियों और मूल्यांकनों (Values) का अभ्यास अधिक सुगमतया डाला जा सकता है और यदि ऐसा किया जाय तो यह व्यक्ति के जीवन की सर्वोत्तम सम्पत्ति होगी। यह उसकी दैवी संपत् होगी जो उसे बहुत योग्यता से और सुखपूर्वक जीवन-संघर्षों से पार कर देगी, अपेक्षा उस धन-दौलत के जिसे हम कितनी चिन्ता के साथ अपने बच्चों को देना आवश्यक समझते हैं।

(असमाप्त)

योग

(विचार तथा प्रार्थना रूप में)

—— :o: ——

(ले०— श्री अनिलवरणराय)

अपनी सत्ता के सत्य के अनुकूल जीवन बिताना ही हमारी साधना है। अपने जीवन के सभी अंगों में हम उसी सत्य को अभिव्यक्त करने की चेष्टा करते हैं; परन्तु साधारणतः हमारी चेष्टा अंध होती है, अंधेरे में टटोल-टटोलकर आगे बढ़ती है और बराबर ही उल्टी दिशा में, मिथ्या की ओर ले जाती है। उस सत्य को ठीक-ठीक, सचेत होकर जानना और अपने जीवन में उसे सिद्ध करना ही योग कहलाता है।

हमें अपने शरीर, प्राण और मन को इस तरह बदल देना और नये सांचे में ढाल देना होगा जिसमें वे नमनीय हो जायं, उस सत्य के यंत्र, सर्वाङ्गपूर्ण वाहन बन जायं। परन्तु जो विश्वास और अभ्यास उनके अन्दर जमकर बैठ गये हैं वे इस परिवर्तन के सब से बड़े बाधक हैं। शरीर को यह विश्वास ही नहीं होता कि जिन नियमों को वह जानता है और जिनका वह अनुसरण करता आ रहा है वे कभी बदले या हटाये जा सकते हैं और यही बात

प्राण और मन के विषय में भी कही जा सकती है। कहीं भी सत्य-चेतना का प्रकाश नहीं हैं, उच्चतर दिव्य संभावनाओं में तनिक भी विश्वास नहीं है, हमारे जीवन की गति सदा से अंधवत्, यंत्रवत् चल रही है।

सबसे पहली आत्यावश्यक बात यह है कि हमारी सत्ता के प्रत्येक भाग में अपनी दिव्य संभावनाओं के प्रति दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो, यह विश्वास जमकर बैठ जाय कि हमारी समूची प्रकृति पूर्ण रूप से परिवर्तित और रूपान्तरित हो सकती है, इसे होना ही होगा। इस विश्वास के अन्दर अचल-अटल स्थिति प्राप्त करने के बाद, अपने अन्दर से 'असंभव' सम्बन्धी सभी प्रकार के संस्कारों को दूर भगाने के बाद, हमें अपनी सत्ता के सभी अंगों को मां भगवती की ओर खोले रखने का प्रयत्न करना चाहिए तभी वह सत्य हमारे अन्दर अभिव्यक्त हो सकता है और वह अपनी प्रकृति के अनुसार हमें नया रूप दे सकता है।

* * *

हे मां! मेरे व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से अपने अन्दर मिल जाने दे, जिससे मेरे अन्दर अपने पुराने जीवन का कोई भी चिन्ह बाकी न रह जाय। केवल इसी तरीक़े से मैं अपनी सत्ता के सत्य को प्राप्त कर सकता हूँ, क्योंकि तेरे साथ मेरा एकत्व ही वास्तविक सत्य है और मेरा पार्थक्य एक मिथ्या है जो सभी दुःखों और दुर्दशाओं का कारण है।

माँ! तेरे साथ पुनः एकत्व प्राप्त करने के लिये केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हम अपने हाथों से तेरा चरण स्पर्श करें या कभी-कभी ध्यान में बैठा करें; हमें उन सभी

चीजों का त्याग करना चाहिये जिनमें हम पहले से लिप्त हैं और तेरे सभी कार्यों, तेरी सभी क्रियाओं में पूर्णरूप से तेरा साथ देना चाहिये। हमारा जीवन अभी भी पुरानी धारणाओं और विचारों से, पुराने स्वार्थों तथा तत्सम्बन्धी वस्तुओं से, पुरानी आदतों और प्रवृत्तियों से भरा हुआ है और ये सब मिलकर, हे माँ, तेरे साथ युक्त होने में हमें बड़ी बाधा प्रदान कर रहे हैं। हमें इन सबकी ओर से मुँह फेर लेना चाहिये और जो महान् कार्य, पृथ्वी पर अतिमानस सत्य को अभिव्यक्त करने का जो कार्य तू कर रही है, केवल उसी के साथ हमें तादात्म्य स्थापित करना चाहिये। हमें अपनी पूरी-की-पूरी दृष्टि केवल इस बात पर आबद्ध करनी चाहिये कि इस अभिव्यक्ति के लिये अनुकूल अवस्था उत्पन्न हो और सब बाधाएँ दूर हो जाएँ।

और हे मां! हमें अपने सभी विचारों, अनुभूतियों और कर्मों में तेरे ही आन्तरिक स्पर्श और तेरी ही प्रेरणा को प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये। इस तरह जब हम तुझे सब प्रकार की ज्योति, शक्ति और आनन्द का मूल समझ कर अपने अन्दर तेरे साथ युक्त होंगे और बाहर में तेरे इस महान् कार्य में योग देंगे तभी तेरे साथ हमारा एकत्व पूर्ण होगा और हम वास्तव में तेरे दिव्य आत्मा का एक अंग बन सकेंगे।

× × × ×

मां! योग का अर्थ केवल तेरा चिन्तन ही नहीं है और न तेरे चरणों में सिर टेकना ही है। अवश्य ही ये चीजें बहुत सहायता करती हैं और इन्हीं के द्वारा हम अपनी साधना आरम्भ करते हैं, परन्तु केवल ये ही चीजें

हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकतीं। हमें अपनी सारी सत्ता को तेरी जीवित-जागृत उपस्थिति से भर देना चाहिये, हमें तेरे साथ निरन्तर सक्रिय और सर्वांगीण एकत्व बनाये रखना चाहिये, उसी एकत्व में निवास करना चाहिये और यही योग शब्द का वास्तविक अर्थ है।

हमारे अन्दर जान में या अनजान में, इच्छा से या अनिच्छा से ऐसी कोई क्रिया नहीं होती जिसे हमारी सत्ता का कोई-न-कोई भाग अनुमति, सज्ञान अनुमति न देता हो। हमें सदा तेरी ज्योति प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये; सजग होकर अपने अन्दर की व्यर्थ, अज्ञानोचित क्रियाओं को ढूँढ निकालना चाहिये और दृढ़ता के साथ उनसे अपनी अनुमति हटा लेनी चाहिये तथा सच्चे दिल से उन्हें निकाल बाहर करने के लिये तेरी शक्ति का आवाहन करना चाहिये। यही यौगिक साधना की सच्ची प्रक्रिया है।

इसके बाद हमें यह जानने का प्रयास करना चाहिये कि इस संसार में तेरी क्या इच्छा है और फिर सचाई के साथ तेरी सेवा में अपने आपको लगा देना चाहिये और उसमें सदा तेरी ही प्रेरणा तथा पथ-प्रदर्शन प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये। हमें केवल उसी विशुद्ध आनन्द में डूबे रहना चाहिये जो तेरे प्रति सच्ची प्रीति और भक्ति रखने से उत्पन्न होता है। उस दिव्य आनन्द का आस्वादन करने के लिये ऊपर से स्वयं देवगण हमारे अन्दर उतर आवेंगे और दिव्य जीवन प्राप्त करने में हमें सहायता प्रदान करेंगे। यही योग-प्रणाली है जो हमें अवश्य ही सर्वोच्च सिद्धि प्रदान करेगी।

श्रीअरविन्द-निकेतन

श्रीअरविन्द के कार्य में रुचि रखने वाले सज्जनों को यह समाचार प्रसन्नता-दायक होगा कि यहाँ देहली के पास 'श्रीअरविन्द-निकेतन' नाम की एक छोटी सी संस्था स्थापित हुई है। यह 'अदिति' नामक पुस्तिका या पत्रिका (Bulletin) इसी श्रीअरविन्द-निकेतन की तरफ़ से प्रकाशित की जा रही है, इस निकेतन की तरफ़ से होने वाली प्रवृत्तियों में से यह एक है। इसलिए इस निकेतन का कुछ परिचय पाठकों को देना उचित होगा।

स्थान

यह अभी बिल्कुल प्रारम्भिक रूप में है। इसको भौतिक रूप देने में मुख्य हाथ देहली के एक व्यापारी सज्जन श्री सुरेन्द्रनाथजी जौहर का है। वे अभी तक कांग्रेस के भी मुख्य कार्यकर्त्ता रहे हैं, पर पिछले तीन वर्षों से वे धीरे २ श्रीअरविन्द की तरफ़ आकृष्ट हो रहे थे, इस बीच में वे चार पांच बार दर्शन के लिए पांडिचेरी भी जा चुके हैं और अब उन्होंने अपने आपको श्री-

अरविन्द के कार्य के लिए सौंप दिया है। उनकी जो एक कोठी और ज़मीन देहली से करीब सात मील दूर कुतुब-मीनार के पास अधचिनी ग्राम के पड़ोस में है वही श्री अरविन्द-निकेतन का मुख्य स्थान है। और इस संस्था का देहली शहर में प्रनिनिधित्व करने वाला जो केन्द्र है वह नई देहली के कनाट-सर्कस में 'स्टेट्समैन' के दफ्तर के सामने, 'हिन्दुस्तान' के कार्यालय के पास, एस० एन० संडरसन कम्पनी से संबद्ध है। यह कम्पनी भी श्री सुरेन्द्रनाथ जी की है। यहीं का डाक का संक्षिप्त पता 'डाकपेटी ८५' है। यहां एक विभाग पूरी तरह 'श्रीअरविन्द-निकेतन' का है। इसी में शहर से संबन्ध रखने वाले श्रीअरविन्द-निकेतन के उपविभाग हैं। यह सब तो स्थान के बारे में हुआ।

१ साहित्य-प्रकाशन

इस श्रीअरविन्द-निकेतन द्वारा पाँच प्रकार का कार्य जारी करने का विचार है। उनका कुछ-कुछ प्रारम्भ भी हो गया है। इनमें पहिला कार्य है हिन्दी में श्रीअरविन्द-साहित्य का प्रकाशन। अभी तक प्रकाशित हुई श्रीअरविन्द की हिन्दी पुस्तकें मुख्यतया मद्रास में दक्षिण हिन्दी-प्रचार-मुद्रणालय में छपी हैं। इन सबके प्रकाशन में श्रीमान् मदनगोपालजी गाडोदिया ने जो अब पांडिचेरी में रहते हैं बहुत परिश्रम, त्याग और सेवा की है। उनकी इच्छा से

ही अब वह कार्य यहाँ उत्तर भारत में, देहली में इस श्रीअरविन्द निकेतन द्वारा होगा। वहाँ का पुस्तक-भण्डार सब धीरे-धीरे यहीं आ जायगा। आगे की पुस्तकें अब यहीं से छपेंगी और प्रकाशित होंगी।

२ अदिति

इसके साथ ही यहाँ से अदिति पत्रिका का प्रकाशन होगा, जो कि साधारण पत्रिका (Bulletin) या पुस्तिका रूप में प्रारम्भ हो गया है। विचार तो यह था और है कि अवस्थाओं के अनुकूल हो जाने पर यह मासिक रूप में प्रकाशित हो। परन्तु आजकल की कागज़ आदि की कठिनाई के कारण उस विचार को अभी स्थगित रखना पड़ा है। अतः अभी हम वर्ष में चार बार श्रीअरविंद के दर्शन के अवसरों पर—अर्थात् २१ फर्वरी, २४ अप्रैल, १५ अगस्त तथा २४ नवम्बर को—एक प्रकार से त्रैमासिक के से रूप में अदिति की पत्रिकायें पाठकों को भेंट किया करेंगे, जैसे कि पहली यह पत्रिका की जा रही है। यह विचार हमें बंगाल में जो श्रीअरविंद-कार्य एक समुदाय द्वारा किया जा रहा है वहाँ से सूझा है। वहाँ 'श्रीअरविंद-पाठमन्दिर' नाम से एक छोटा सा संगठन है। वे भी कोई मासिक या त्रैमासिक पत्र न निकालकर श्रीअरविंद पाठमन्दिर की वर्त्तिकायें (Bulletins) निकालते हैं। हम यहाँ इस मन्दिर के सञ्चालकों का, तथा विशेषतया इसके

प्रमुख श्रीमान्य चारुचन्द्रदत्त जी का हार्दिक धन्यवाद भी करते हैं कि उन्होंने अपनी इन 'वर्त्तिकाओं' में से लेखों को 'अदिति' के लिए अनुवाद कर लेने की अनुमति प्रदान करदी है। फलतः इस अंक में भी पाठक श्री हरिदास चौधरी का 'मां' नामक उत्तम लेख पढ़ेंगे।

इस तरह मासिक के स्थान पर पुस्तिका या पत्रिका (Bulletin) के रूप में निकालने से डाक का खर्च तो काफी ज्यादा होगा, पर अभी यह मजबूरी है। अवस्थायें अनुकूल होते ही हम इसे बाक़ायदा पत्रिका (त्रैमासिक या मासिक) का रूप दे देने का विचार रखते हैं।

३ साहित्य-विक्रय

श्रीअरविंद के हिन्दी-साहित्य का तथा इन अदिति पत्रिकाओं का प्रकाशन ही नहीं किन्तु इनका विक्रय केन्द्र भी यहाँ रहेगा। और केवल हिन्दी का साहित्य ही नहीं किन्तु श्रीअरविन्द सम्बन्धी सब भाषाओं का—अंग्रेजी, बंगला, गुजराती आदि सभी भाषाओं का साहित्य यहाँ इस श्रीअरविन्द-निकेतन में विक्रयार्थ उपस्थित रहेगा। यह कार्य भी कुछ प्रारम्भ हो गया है। हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला की काफी पुस्तकें विक्रयार्थ निकेतन में पहुंच चुकी हैं। यह विक्रय-विभाग शहर के केन्द्र में कनाट सर्कस के श्रीअरविंद-निकेतन में स्थापित है।

४ अध्ययनमण्डल तथा वाचनालय

इसके अतिरिक्त यह सोचा गया है कि श्रीअरविन्द के साहित्य को पढ़ने, पढ़ाने और समझाने का भी कुछ प्रबन्ध हो सके। इसके लिये श्रीअरविन्द-निकेतन में अध्ययन मण्डल (Study circle) तथा वाचनालय खोलने का भी आयोजन लगभग पूरा हो चुका है। अध्ययन-मण्डल का प्रारम्भ इस रूप में हो चुका है कि श्री डा० इन्द्रसेन जी ने अभी दरियागञ्ज में अपने घर पर ही श्रीअरविन्द के साहित्य का एक अध्ययन-मण्डल प्रारम्भ किया है जिसमें वे प्रति सप्ताह दो बार—बृहस्पति तथा रविवार को रात्रि के ८॥ से ९॥ तक—श्रीअरविन्द की पुस्तकों का आगन्तुकों को अध्ययन कराते हैं। पर श्रीअरविन्द वाचनालय तो कनाट सर्कस के श्रीअरविन्द-निकेतन केन्द्र में ही सामान्य रूप से चालू हो गया है। श्रीअरविन्दसाहित्य की एक एक प्रति रख दी गई है और जो भाई चाहें सायं ७ से ९ बजे के बीच में वहाँ जाकर वाचन कर सकते हैं।

५ आध्यात्मिक जीवन में सहायता

पाँचवाँ कार्य है श्रीअरविन्द की योगपद्धति के अनुसार जो लोग अपना जीवन व्यतीत करना चाहें उन्हें उसमें सहायता पहुँचा सकना। यह कार्य अभी प्रारम्भ होने को है। कुछ महीनों बाद, सम्भवतः मई-जून मास से, श्रीअरविन्द-निकेतन में साधना करना चाहने वालों के रहने आदि

की व्यवस्था की जा सकेगी ऐसी आशा है। यह व्यवस्था मुख्य श्रीअरविन्द-निकेतन में जो कि देहली से ७ मील दूर कुतुब मीनार के पास है की जायगी। यहाँ पर रहने वाले भाई परस्पर सत्संग, स्वाध्याय करते हुए, आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते हुए कुछ क्रियात्मक अनुभव पाकर श्रीअरविन्द के महान् योग के लिये तैयार हो सकेंगे। ऐसी तैय्यारी के लिये सब अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करना ही इस निकेतन का प्रयत्न होगा। अथवा यूँ कहना चाहिए कि श्रीअरविन्द के कार्य के लिये इधर उत्तर भारत की तरफ़ जो एक केन्द्र का अभाव कुछ काल से बहुत से लोगों को अनुभव हो रहा था, उसीकी अंशतः पूर्त्ति के लिये यह एक प्रयत्न है। अस्तु।

अभी इन पाँच कार्यों को सम्मुख रख कर श्रीअरविन्द-निकेतन स्थापित हो रहा है। इस पवित्र संस्था की स्थापना का समाचार पाठकों को सुनाते हुए हम नम्रभाव से परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वे समर्पित भाव से किये जाने वाले हमारे इन प्रयत्नों में सदा सहायक हों। आशा है पाठक भी प्रभु से की गई हमारी इस प्रार्थना में सम्मिलित होंगे।



'अदिति' नाम

कई मित्रों ने पूछा है कि 'अदिति का क्या मतलब है, यह नाम क्यों रखा है ?' अन्यों को भी ऐसी जिज्ञासा होना स्वाभाविक है, क्योंकि यह वस्तुतः साधारण हिन्दी भाषा में अप्रसिद्ध शब्द है। असल में यह एक वैदिक शब्द है। हम यह सूचित कर चुके हैं कि पत्रिका का यह वैदिक नाम स्वयं श्रीअरविन्द का पसन्द किया हुआ है। लौकिक संस्कृत में 'अदिति' का अर्थ 'देवमाता' होता है। बस, 'अदिति' का अर्थ 'देवजननी' है इतना समझ लेना ही इस नाम के सौन्दर्य का आनन्द लेने को काफ़ी है। अदिति 'दिति' से उलटा है। 'दिति' राक्षसों की, असुरों की माता है। इसी लिये 'दैत्य' (दिति के पुत्र) राक्षसों का नाम है। 'अदिति' के पुत्र आदित्य होते हैं, सूर्य आदि देवता होते हैं। सो 'अदिति' देवों को उत्पन्न करने वाली देवजननी माता का नाम है।

श्रीअरविन्द के समष्टिगत और व्यष्टिगत योग का ध्येय देवजाति उत्पन्न करना, मनुष्य को देव बनाना है, यह हमारे पाठकों से अब छिपा न होगा। तो हम यह भी दृष्टि में ला सकते हैं कि यह भगवान् की शक्ति, भगवती आद्या शक्ति, देवजननी अदिति माता की ही कृपा और शक्ति है

जिससे कि श्रीअरविन्द द्वारा देखा गया दिव्य जगत् की उत्पत्ति का महान् कार्य पूरा होना है। तो श्रीअरविन्द के सन्देश को सुनाने वाली पत्रिका का 'अदिति' से अधिक सुन्दर, सार्थक और समंजस नाम और क्या हो सकता था।

इस प्रकरण में बस केवल एक और बात की तरफ़ पाठकों का ध्यान खींच कर इस विषय को अभी हम समाप्त करते हैं। क्योंकि इस पत्रिका के आदर्श-मन्त्र-भूत

'अनागसो अदितये स्याम'

इस वेद वचन पर हम अगली वार पाठकों की सेवा में अपना एक लेख प्रस्तुत करने वाले हैं जिसके लिये कि इस पत्रिका में गुञ्जायश नहीं रही है। तब अदिति शब्द की कुछ और सूक्ष्मता में जाकर भी व्याख्या हो जायगी। पर इतना संक्षेप रूप से अभी कह सकते हैं कि 'दिति' शब्द संस्कृत में जिस धातु से बना है उसका अर्थ है 'टुकड़े करना, खण्ड खण्ड करना, काटना'। सो यह हमारा वर्तमान अदिव्य, अविद्यायुक्त संसार, अधिक से अधिक खण्डित मानसिक प्रकाश से ही प्रकाशयुक्त होने वाला यह हमारा संसार, जिसमें हम प्रत्येक वस्तु को टुकड़े-टुकड़े, खण्डित, सीमित, परिमित रूप में ही देख पाते हैं दिति का संसार है। श्रीअरविन्द इसे अदिति के लिये जीतना चाहते हैं, इसे अदिति का लोक बनाना चाहते हैं, वह दिव्य, विद्यायुक्त लोक जिसमें अखण्ड, असीम दृष्टिगोचर और व्यव-

हारगोचर होता है, अतः जहाँ विशुद्ध असीम प्रकाश का राज्य है, जो कि मन को अतिक्रान्त कर ऊपर के अतिमानस 'विज्ञान' नामक तत्त्व की विशेषता है, और जिसको पाने की साधना ही श्रीअरविन्द की सब साधना है। यह अखण्डता, असीमता, अपरिमिततारूपिणी विज्ञानमयी अदिति माता ही है जो कि दिव्यत्व क जन्म दे सकती है। अखण्ड, असीम स्वभावा इस अदिति माता का राज्य हो जाने पर ही इस पृथ्वी का दुःख, दारिद्र्य, शोक-मोह, क्लेश, भय, मरण-त्रास से वास्तविक त्राण हो सकता है। और कोई जगत् के दुःख-पाप को दूर कर सकने का आत्यन्तिक सच्चा उपाय नहीं है। इसीलिये हम 'अदिति' माता की उपासना करते हैं।

मुखपृष्ठ पर जो 'अदिति' माता का चित्र दिया हुआ है उसमें यही चित्रित है कि अदिति माता अपनी पुनीत उपस्थिति द्वारा जगत् के मनुष्यों को अभयवर प्रदान कर रही हैं। यह चित्र श्रीअरविन्द-आश्रम के एक कलाकर साधक का बनाया हुआ है।



लेखकों का परिचय

१ श्री नलिनीकान्त जी—

आप श्रीअरविन्द के पहले के, वंग-भंग समय से, सहयोगी हैं; आज श्रीअरविन्द के योगाश्रम के मन्त्री और श्रीअरविन्द के 'निजीमन्त्री' भी हैं। प्रथमवार ही आपके किसी लेख को जिसने पढ़ा है वह आपकी उच्च विचारशीलता तथा सुलेखकता से प्रभावित हो जाता है। आपकी कई उत्तम पुस्तकें जैसे The coming Race, Towards The Light अंग्रेजी में भी प्रकाशित हुई हैं जो कि श्रीअरविन्द-साहित्य में उच्च कोटि की हैं। बंगला में तो आपके लेखों की प्यास सी रहती है और बंगला साहित्य को आपके ने लेखों धनी किया है—यह कहना अत्युक्ति नहीं है।

इस पत्रिका में श्रीनलिनीकान्त जी का जो लेख छपा है उसका मुख्य अंश गत ७ दिसम्बर को देहली के अखिल भारतीय रेडियो से श्री डा० इन्द्रसेन जी द्वारा उद्घोषित भी किया गया था।

आशा है आपके लेखों का रसास्वादन हम पाठकों को निरन्तर करा सकेंगे।

२ श्री हरिदास चौधरी—

आप कलकत्ते के समीप चिटागांग कालेज में दर्शन (फ़िलासफ़ी) के प्रोफेस्सर हैं। एम० ए० हैं। श्रीअरविन्द के दर्शन के आप माने हुए मर्मज्ञ तथा उसके कुशल व्याख्याकार हैं। आपके लेख आकर्षक और प्रभावोत्पादक होते हैं।

३ डा० इन्द्रसेन जी—

आप देहली के हिन्दू कालेज में दर्शन (फ़िलासफ़ी) के प्रोफेस्सर हैं। एम० ए०, पी० एच० डी० हैं। कुछ वर्षों से श्रीअरविन्द के योग से आकृष्ट होकर पांडिचेरी आश्रम से निकट सम्बन्ध प्राप्त कर चुके हैं। देहली में जो श्रीअरविन्द-निकेतन की स्थापना हुई है उसके वास्तविक प्रेरक और जन्मदाता आप ही हैं। आप इस समय इस निकेतन के मन्त्री हैं।

४ श्री अनिलवरणराय—

आप पहिले बँगाल के एक प्रसिद्ध काँग्रेस कार्यकर्त्ता रहे हैं। अब श्री अरविन्दाश्रम के एक प्रमुख साधक हैं। आप बँगला के प्रसिद्ध लेखक हैं। गीता पर आपने बहुत लिखा है, गीता के तो आप विशेषज्ञ कहे जा सकते हैं। अँग्रेज़ी में आपकी Songs from the soul तथा Message of the Gita प्रसिद्ध पुस्तकें हैं।